शीराज़ा (हिन्दी)

27

A/W



जे. एण्ड के. अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

त्रिमासिक **शीराज़ा** हिन्दी

वर्ष 14	अंक [illegible]	[illegible] 1998

प्रमुख सम्पादक — [illegible]

सम्पादक — डॉ. [illegible]

सम्पर्क : [illegible]

फोन : [illegible]

मूल्य : [illegible] वार्षिक : [illegible]

द्विमासिक **शीराज़ा** हिन्दी

वर्ष 34	अंक 3	अगस्त-सितम्बर 1998

प्रमुख सम्पादक
बलवंत ठाकुर

संपादक
डॉ. उषा व्यास

संपर्क : *सम्पादक, शीराज़ा हिन्दी, जे. एंड. के. अकैडमी ऑफ आर्ट कल्चर एंड लैंग्वेजिज़ जम्मू।*

फोन : 579576, 577643

मूल्य : 2 रुपये   वार्षिक : 10 रुपये

सम्पादकीय

अपनी काल यात्रा में गीत मात्र संवेदना नहीं। वह है सृष्टि का मर्म, द्युति और मुक्ति का प्रवाह, और है एक तरल भाव बोध जो अपनी काल यात्रा में कभी अप्रसंगिक नहीं रहा। क्योंकि वह मानव का बीज मंत्र है। और कविता की अन्तरंग विधा है। जो कविता का वह अन्तिम, अन्तर छोर है जहां कविता ललित और सूक्षम होकर गेय हो जाती है। और उत्तरोत्तर, मधुर, मृदुल, सुकुमार और सजग होती चलती है। तभी तो वह पत्थर से पिघलाव तक रुपायित होने लगती है। गीत श्रांत शिथिल यात्री को लौटे हुए पाकर अंधेरे में दीपक की भांति दीप्त हो उठता है । और मन द्वार पर दस्तक देता, हुआ जीवन को व्याख्यायित करता है। वह देहगामी से मनगामी होकर चेतना के सभी गवाक्ष खोल देता है। तभी तो वह कभी विद्यापति, कभी सूर, कभी मीरा, कभी जयदेव और कभी अमीर खुसरो बन जाता है। जीवन के इन्हीं पोरों में अंगुलिमाल की उंगलियों का गणित भी है और तथागत की करुणा का सहस्त्र कमल भी।

गीत की संप्रेषणीयता में आज के गीत की क्या भूमिका है ? क्या वह अपनी लयात्मकता, तीव्र प्रभावशीलता और लक्षित भावबोध के साथ-प्रस्तुत हो रहा है ?

O विचारणीय है न ?

अब आप यह नया अंक देखिये और कहिये, कैसा है ?

—उषा व्यास

इस अंक में

उत्तरशती की हिन्दी कविता : वस्तु के विविध आयाम

○ डा. रवि रंजन

कविता समाज एवं काव्य-लेखन की परम्परा से सम्बद्ध होती है। जाहिर है कि इसका सृजन समाज नहीं बल्कि एक व्यक्ति करता है। रचनाकार सामाजिक सम्बन्धों की एक इकाई होता है। वर्तमान परिवेश में मनुष्य चूंकि पूंजीवादी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के तहत बड़े पैमाने पर की जा रही अमानवीकरण की साजिश का जाने-अनजाने शिकार होकर दिनानुदिन अपनी संवेदनशीलता को खोते चले जाने के लिए अभिशप्त है, इसलिए ऐसे कठिन दौर में कविता की उपादेयता भी स्वयंसिद्ध है।

समकालीन हिन्दी कविता के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह जनता के हित के साथ रचनात्मक सरोकार रखने के बावजूद व्यावहारिक रूप में दिनानुदिन उससे जुड़ने के बजाय कटती चली जा रही है। इन हालात के लिए पूंजीवादी व्यवस्था को जिम्मेवार बताते हुए केदारनाथ सिंह कहते हैं कि "उन देशों में जहां पूंजीवादी प्रणाली है। हमारा देश उससे अलग नहीं है क्योंकि हमारी सारी प्रणालियां पूंजीवादी हैं। वहां कविता की स्थिति अच्छी नहीं है। उपभोक्ता संस्कृति में कविता बेकार की चीज समझी जाने लगी है। मनोरंजन के और अन्य साधन मनुष्य की स्वाद वृत्ति को बहुत आसानी से संतुष्ट कर सकते हैं। कविता के आनन्द तक पहुंचने में समय लगता है। संक्षिप्त मार्ग से चलकर उस आनन्द को पाया नहीं जा सकता। उपभोक्ता संस्कृति में लोगों के पास समय कम है। अतः जब तक समाज के ढांचे में परिवर्तन नहीं होगा तब तक कविता को यह नियति झेलनी पड़ेगी।"

इस मुद्दे की तह में जाकर विचारते हुए राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने इसे "साहित्यानुकूलन" (Conditioning of litetature) उनकी धारणा है कि साहित्य की पारिस्थिकी (Ecology of literature) में अनुकूल और स्वायत्त शक्तियों को द्वन्द्वात्मकता रचनाशील समुदाय की परिव्याप्त अवस्था में निरन्तर सक्रिय रहती है। सांप्रतिक हिन्दी कविता में वे नयी काव्य-स्फूर्ति का अभाव पाते हैं, जो आम पाठक और रचनाकार को "डोसाइल" बना रहा है और यह उनकी दृष्टि में अनुकूलन का फल है। इसे समाप्त करने के लिए सुझाव देते

हुए उन्होंने लिखा है कि "लेखकों में जब तक रचनात्मक वर्ग-निष्ठा नहीं जगेगी, तब तक वे साहित्यानुकूलन के औजारों से लड़ नहीं सकते, जब तक वे अर्थचक्र की पूरी जन-विरोधी बनावट के पुर्जे बने रहने से व्यावहारिक तौर पर इन्कार और असहयोग नहीं करते। अत: जरूरी है कि लेखकों में अपनी वर्ग निष्ठा जगे, जनबोध सक्रिय हो, जन-जीवन के व्यापक परिवर्तन की लड़ाई में उनका रचनात्मक वर्ग ईमानदारी और स्वाधीन निर्णय के द्वारा अपने दायित्व का भरपूर निर्वाह करे, लड़े और जुझारू जनयोद्धाओं के कन्धे से कन्धा मिलाकर जनमुक्ति की जय यात्रा में कदम बढ़ाता चले। साहित्यानुकूलन को तोड़ना तो उसकी तैयारी की मंजिल है, जिससे गुजर कर ही लेखक उक्त जन-भविष्य का रचनाकार हो सकता है।"

रोजर गेसउडी के शब्दों में यदि कहें तो "एक ऐसे समाज में जहां प्रत्येक चीज बेची तथा खरीदी जाती है, वहां बुर्जुआ स्त्री से नहीं बल्कि उसके दहेज से विवाह करता है, लाभ देखकर दोस्ती की जाती है, बुर्जुआ कलाकृतियों को या मोटरों के बिल्कुल नये माडलों की जरूरत के कारण नहीं बल्कि प्रदर्शन तथा ऊंचे दाम को देखते हुए खरीदता है।" वस्तुत: मौजूदा परिवेश में साहित्यनुकूलन भी हमारे सम्पूर्ण जीवन को अनुकूलित कर देने की इस साजिश का ही हिस्सा और नतीजा है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह की एक कविता में मनुष्यता के विरोध में की जा रही साजिश को बेनकाब किया गया है-

भय के उल्लास में
सबसे विशाल सिटी हाल में
नाच रहे हैं वे........
हम सबको जानते हैं
वे नाच रहे हैं
अपने काट डाले गये पैरों के घुटनों पर
नियंत्रण और अनुकूलन
संचालन और आदेश करते कक्ष।
हर कहीं टुकड़े हैं सामूहिक अंधेरे के......
उसी के उन सुवर्ण-दीपों के नीचे हैं जो.....
सहस्त्राब्दियों से........सहस्त्राब्दियों तक
पताकाओं की तरह शिखाओं से जल रहे,
जलते ही रहे हैं।

निष्कर्ष (समकालीन कविता विशेषांक) मई 1988 पृ: 65-66.

इस कविता में जब कवि "नियंत्रण और अनुकूलन" की बात करता है तो वह प्रकारान्तर से आज आम आदमी की दुनिया तथा उसकी तमाम सक्रियताओं को अनुकूलित एवं नियंत्रित करने वाली उन शक्तियों के वर्चस्व की ओर हमारा ध्यान खींचना चाहता है जो हमारे समय के मनुष्य की भीतरी दुनिया का रूप भी अपने हित में गढ़ने तथा उसे बड़ी आसानी से नियंत्रित कर सकने की चरम स्थिति में हैं।

(1) *लौटूंगा आटा बनकर तुम्हारे हाथों गुंथने*
चिपक जाऊंगा क्षण भर
बीते मोह सा पानी से छूट जाऊंगा
हो सकता है और आकर कहूं रोटी खिलाओ
अगर तुमने इसमें उत्साह दिखाया
तो मैं अपार खुशी से खाता जाऊंगा वह रोटी

–असद जैदी

(2) *मैं अपने घर लौटूंगा*
और अपनी जिन्दगी की बची हुई ऊन से
एक नन्हा सा पुलओवर बनाऊंगा
जो समय के साथ
एक ऐसा पुलओवर बन जाएगा
जिसे दुनिया का हर बच्चा
पहन पाएगा

–कुमार विकल, पहल–4

कहना न होगा ऐसे तमाम कवि जो कि प्रकारान्तर से आज के कला विरोधी माहौल में अपनी रचनाधर्मिता का अर्थ खोजने की ही एक कोशिश में हैं पर इसके साथ ही यह भी सच है कि इनकी कविताओं में अपने समय की जटिलताओं से रचना के स्तर पर जूझने के बजाय फौरी किस्म के आश्वासनों की भरमार है। इन आश्वासनों और आस्थाओं के मूल में जो भावमयता है वह यथार्थ की परिधि के बाहर की चीज़ नहीं है।

आज के अधिकांश कवि कविता की प्रतिमाएं तो गढ़ रहे हैं पर उसे जीवंत और प्राणवान बनाने में वे कदाचित अक्षम सिद्ध हो रहे हैं और संभवत: इसी कारण उनकी कृतियां जन सामान्य के अन्तर्मन को झकझोरने में कारगर नहीं है। सच तो यह है कि

रचना को जीवंत एवं प्राणवान बनाने के लिए जिस विशिष्ट प्रतिभा ; गहन अनुभूति एवं सहज सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति की दरकार होती है उसका समकालीन कवियों को संभवत: अभाव है। तभी ''मानवता की मातृभाषा'' कही जाने वाली यह विधा अपनी प्रभावान्विति खोती जा रही है। आलोकधन्वा इस कड़वे-कड़वे सच को स्वीकार करते हुए लिखते हैं.........

मैं क्यों नहीं लिख पाता हूं वैसी कविता
जैसे बच्चों की नींद होती है
ख्वाब होता है।
पके हुए जामुन का रंग होता है।
मैं वैसी कविता क्यों नहीं लिख पाता–
जैसी मां के नंगे शरीर में नये पुआल की महक होती है
जैसे बांस के जंगल में हिरण के पसीने की गंध होती है
खरगोश के कान होते हैं
जैसे ग्रीष्म के बीहड़ एकान्त में
नीले जल-पक्षियों का मिथुन होता है।

कहना न होगा कि भाषिक अभिव्यक्ति का बुनियादी रूप होने के बावजूद कविता केवल शब्द विधान नहीं है। वह भाव, अनुभूति, लय, छंद, प्रवाह, गति, एवं प्रभाव आदि का जीवंत एवं संगीतपूर्ण कलात्मक संयोजन है। भाव की तीव्रता अनुभूति की प्रबलता पर आश्रित होती है। यह अनुभूति ही कवि की मां है।

तुम मेरी पृथ्वी ही और मैं तुम्हारा इष्ट देवता हूं
और कवि हूं
तुम मुझे जन्म देती हो
और मेरे साथ रमण करती हो।

–राजकमल चौधरी

समकालीन हिन्दी कविता के क्षेत्र में ज्यादातर भावपूर्ण गद्य को कविता के नाम पर परोसा जा रहा है तथा ऐसे रचनाकारों को उनके कुछ पक्षधर समीक्षक काव्य की लय में गद्य की लय को विन्यस्त कर सकने में प्रवीणता प्राप्त महान् शिल्पी के रूप में अपनी बांसनुमा कलम उछाल रहे हैं। किन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर ऐसी तमाम कविताएं भावपूर्ण गद्य-पंक्तियों की सीमा से आगे नहीं बढ़ पा रही हैं। दूसरे शब्दों में यदि कहें तो वे कवित्व के संस्पर्श मात्र से वंचित हैं। ऐसे लेखन का अपना महत्व हो

सकता है, एक नवीन विधा के रूप में इनकी अलग़ पहचान बन सकती है पर इन्हें कविता के नाम पर पुरस्कृत करना कविता की अपनी संरचनात्मक मौलिकता पर हमला बोलना है जोकि इसके अस्तित्व और निजी विशेषता के साथ घोर अन्याय है।

साथी कैदी इज्जत करते हैं
असिस्टेन्ट जेलर हालचाल पूछता है
दोस्त किताबें भेजते हैं
घर के लोग मिलने आते हैं
अखबार में फोटो छपती है–
लेकिन कैदी
याद करता है उन दिनों की
जब ऐसा कुछ नहीं होता था
फिर भी वह खुश था
क्योंकि बाहर था।

कतार (अप्रैल-जून) 1989

इन पक्तियों से गुजरते हुए पाठक के सामने कुल मिलाकर एक ''ए-क्लास'' की सुविधा भोगते ऐसे कैदी का बिम्ब उपस्थित होता है जो तमाम सुविधाओं के बीच भी गमगीन है। जाहिर है कि कैदी रचनात्मक व्यक्तित्व से सम्पन्न है पर उसका ग़म पूरी तरह दिमाग़ी है। यदि हम अंग्रेजी, राज में एक लम्बे समय तक जेल-जीवन की यातना भोगे हुए सुप्रसिद्ध समाजवादी लेखक रामवृक्ष बेनीपुरी रचित ''कैदी की पत्नी'' नामक पुस्तक से गुजरें तो वहां हमें ऊपर उद्धृत काव्य पंक्तियों से कहीं ज्यादा प्रभावी पंक्तियां देखने को मिलती हैं।

प्रतिगामी युग-धर्म जब
वक्त के उमड़ते बादलों का गला घोंटता है
तब न खून बहता हैं न आंसू
बिजली गिरती है ब्रज बनकर
वर्षा की बूंदों से उठता है तूफान
मां धरती अपने आंसू पोंछती है
जेल की सीखचों से बाहर आता है
कवि का सन्देश
गीत बनकर
कवि जीता है गीतों में
गीत जन-मन में।

कतार 1988 (अप्रैल-जून) पृः 28.

वरवर राव की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए डा. मैनेजर पाण्डे ने लिखा है कि ''उनमें आदेश, उपदेश और ललकार कम है। विचारधारात्मक व्याख्यान भी लगभग नहीं के बराबर है। भावनाओं का आवेग और ताप है, लेकिन अनावश्यक अधीरता नहीं है। कवि संयम, संवेदनशीलता और साहस के साथ सच्चाई को कविताओं में उभारता है। कहीं-कहीं आलोचना के अस्त्र के रूप में व्यंग्य का भी प्रयोग है। सबसे बड़ी बात यह है कि वरवर राव की कविता उस जन-जीवन और आन्दोलन का प्रामाणिक बोध जगाती है जिसके वे कलाकार और कार्यकर्त्ता हैं।''

(कतार 1988, अप्रैल-जून पृः 27.)

गोरख पाण्डे ने लिखा है कि ''कुछ लोगों ने आधुनिकता के नाम पर कविता को आम समाज से काट दिया है। हमें कविता को फिर से समाज की कविता बनाना होगा ताकि हमारा समाज अपनी छवि कविता में देख सकें। हम एक क्रांतिकारी परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं। हमारी कविता को इस क्रांतिकारी परिवर्तन के दौर के संघर्ष में लगे लोगों के लिए जरूरी आध्यात्मिक ऊर्जा जुटानी होगी। तमाम गलत विचारों, मूल्यों और संस्कारों को तोड़ने में कविता अहम भूमिका निभा सकती है और स्वतंत्रता का राज दिखाने के लिए एक भारी मशाल का काम कर सकती है।'' (जन संस्कृति, जनवरी-मार्च, 1990, पृः 123) किन्तु गंभीरतापूर्वक विचारने से स्पष्ट होता है कि आज जनसम्बद्धता का बढ़ता हुआ शोर भी कविता को आम आदमी से कहीं न कहीं दूर ले जा रहा है। इस संदर्भ में सबसे बड़ा सवाल यह है कि आज की ढेर सारी क्रांतिकारी कही जाने वाली कविता कविता भी है या नहीं ? यदि वाकई कविता हैं तो उनके और जनता के जीवन के बीच फासला क्यों बढ़ता जा रहा है ? सच तो यह है कि जनपक्षधरता का दमामा पीटने वाले आज के अधिकांश कवियों की कविताओं में रचनात्मकता की बजाय नारेबाजी का पुट ही अधिक है।

पहल-36, अक्तूबर-1998.

इससे भी ज्यादा गंभीर संकट तब पैदा होता है जबकि साहित्येतर मानदण्डों के आधार पर कुछ तथाकथित प्रतिबद्ध समीक्षकों द्वारा काव्यालोचन के नाम पर अपने-अपने शिविरों से सम्बद्ध कवियों का गुणगान या गुणगान करने की कोशिशें की जाती हैं। कहना न होगा कि इन शिविरों में से अधिकांश जनान्दोलनों से लगभग कटे हुए हैं। उनका प्रभावक्षेत्र मुख्यतः शहरी मध्यवर्ग तक ही सीमित है और उनमें से कुछ तो प्रतिगामी ताकतों के साथ ''पूंछ से जुड़े'' हैं। ऐसे में जन की मुक्ति के लिए सच्ची निष्ठा रखने वाले रचनाकारों की बेचैनी बिल्कुल स्वाभाविक है-

"और मुक्ति के लिए छटपटाता मेरा कान
वामपंथी राजनीति के तीन शिविरों में भटकता है
और हर शिविर से
मुक्ति का एक दस्तावेज़ लेकर लौटता है
और अब
शिविर-दर-शिविर भटकने के बाद
कुछ ऐसा हो गया है
कि मुझसे मेरा बहुत कुछ खो गया है।"

कुमार विकल, पहल-46.

इन सारी सीमाओं के बावजूद समकालीन हिन्दी कविता में ऐसे कवियों की कमी नहीं हैं जो एक नयी मुक्ति के एहसास के साथ अपने मम्य की कठिन चुनौतियों की रचना के स्तर पर मुकाबला कर रहे हैं। इनमें तीन-चार पीढ़ियों के कवि शामिल हैं जिन्हें अपनी संवेदना, विवेक तथा कुल मिलाकर अपने रचना-कर्म पर पूरा भरोसा है-

"यह जानते हुए कि लिखने से कुछ नहीं होता मैं लिखना चाहता हूं।" (ऋतुराज) कहना न होगा कि एक लम्बे समय तक प्रगतिशील कविता की आधुनिकतावादी दौर में बने जिन ढांचों से मुक्त नहीं हो सकी थी-उनके खतरे के प्रति तो ये कवि काफी सचेत हैं ही, कविता को उसकी स्वाभाविक जमीन पर ला खड़ा करने के लिए भी पूरी तरह सचेष्ट हैं-

धीरे-धीरे उतरी है बाढ़
फिर उभरी आ रही है मेड़ें
खुलें आ रहे खेत घर द्वार
फिर से मसूड़ों में उग रही है दांत की पांत
पता नहीं कौन-सी कोख में
बचा हुआ जीवन
फिर से फेंकता है कंचा
फिर से अपनी जमीन पर लौट रहे हैं लोगबाग
लौट रहे हैं पशु-पक्षी
लौट रहा है सूर्य
लौट आ रहा है सारा संसार
इस प्रलय के बाद

अरुण कमल (अपनी केवल धार) पृः 67.

रचना क्षेत्र में औपनिवेशिक आधुनिकता की बाढ़ जैसे-जैसे उतरेगी, समकालीन हिन्दी कविता हमारे जातीय जीवन की तमाम विशेषताओं से सम्पृक्त होकर अपनी एक अलग पहचान कायम करने में सक्षम होती जाएगी। किन्तु समकालीन कवियों को अपनी रचनाओं के माध्यम से यदि जनता तक पहुंचना है तो उन्हें "सुपर रिफाइंड" हिन्दी की विभिन्न बोलियों की ऊर्जा से सम्पन्न करते हुए लोकप्रिय मुहावरे विकसित करने होंगे। हिन्दी में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, रमेश रंजक एवं गोरख पाण्डे जैसे वरिष्ठ रचनाकारों ने अपनी शक्ति एवं सीमा में इस दिशा में सार्थक पहलकदमी की है। आज जरूरत है उसे आगे बढ़ाने की।

कहना न होगा कि जिस उपनिवेशवाद को समाप्ति को बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में स्वीकारा जा रहा है।

जब हम इस पूरे 'कांटेक्स्ट' के मद्देनजर नागार्जुन को 1988 में रचित एक व्यंग्य कविता पर विचारते हैं तो उम्र के हिसाब से आज हिन्दी के लगभग सबसे बुजुर्ग इस कवि को आर्थिक-राजनैतिक समझ और जागरूकता का लोहा मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं –

हम ठहरे
घीसू माधव की
औ ला द !
क्या रहेगा याद ?
क्यों रहेगा याद ?
मिलता रहे कर्ज
बढ़ता रहे मर्ज
छुट्टियां मनेंगो टापू में
फर्क नहीं रहेगा
बा और बापू में !!

मलयज ने लिखा है कि "भाषा के भीतर जो अनुभूति है, भाषा के बाहर वही कर्म है।.......कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी बनती है भाषा के बाहर के कर्म से। बौने जीवन से बड़ी कविता नहीं पैदा होती।" इस बात को नज़र अंदाज करके चलने के कारण वेणुगोपाल को कविता-यात्रा से निकलकर आई एक विचारणीय लम्बी कविता "जंगलगाथा" पर चलताऊ टिप्पणी करते हुए नेंमिचन्द्र जैन ने लिखा था कि "कविता सुनाकर जंगल की ऐसी तैसी करने का यह इरादा शेख चिल्ली का सपना है।" नेमी जी के अनुसार चूंकि उग्रपंथी राजनैतिक

सम्पर्कों और क्रिया कलाप की वजह से वेणुगोपाल को राजनैतिक इमेज एक जेल जाने वाले कवि क्रांतिकारी की रही है इसलिए उनकी कविता से अतिरिक्त अपेक्षाएं भी बनीं जिन्हें पूरी करने में कवि अक्षम है। गोरख पाण्डेय की एक रनचा द्रष्टव्य है–

बच्चों के बारे में बनायी गयी ढेर सारी योजनाएं
ढेर सारी कविताएं लिखी गईं बच्चों के बारे में /
बच्चों के लिए
खोले गए ढेर सारे स्कूल/
ढेर सारी किताबें बांटी गईं बच्चों के बारे में
बच्चे बड़े हुए/
जहां थे /
वहां से उठ खड़े हुए बच्चे
बच्चों में से कुछ बच्चे /
हुए बनिया हाकिम और दलाल
हुए मालामाल और खुशहाल
बाकी बच्चों ने /
सड़क पर कंकड़ कूटा
दुकानों में प्यालियां धोयीं/
साफ किया टट्टी घर
खाये तमाचे /
बाजार में बिके कौड़ियों के मोल
गटर में गिर पड़े
बच्चों में से कुछ बच्चों ने
आगे चलकर फिर बनायीं योजनाएं
बच्चों के बारे में /
कविताएं लिखीं
स्कूल खोले / किताबें बांटी /
बच्चों के लिए

गोरख पाण्डेय की इस कविता से गुजरते हुए अनायास ही मुक्तिबोध की 'जलना' शीर्षक कहानी के कथानायक की याद आती है जो अपने बच्चों के बारे में सोचता है कि ''उसके बच्चे बड़े होंगे। कालेज एजूकेशन तो क्या ले सकेंगे। इतना पैसा ही नहीं है कि उनके लिए किताबें खरीदें। लेकिन हां, मैं अपने सारी विचार मेरी

अपनी सारी कल्पनाएं और धारणाएं उन्हें बता दूंगा। उनका बिल्कुल सिस्टमैटिकली अध्ययन करा दूंगा। मैं उन्हें बड़े आदमियों की बैठकों से दूर रखूंगा और इस तरह छुट्टी दूंगा कि वे उनके तौर तरीकों से घृणा करें, कि अपने जैसे गरीबों में ही रहे और उन्हें लिखाएं-पढ़ाएं, उन्हें नये-नये विचार दें, उनकी भविष्य कल्पना तीव्र कर दें, उनकी जगत-चेतना को विस्तृत और यथार्थवादी बना दें और उनमें मरे और जियें। मैं उन्हें क्रांतिकारी बनाऊंगा, मैं उन्हें समाज की तलछट बनने के लिए प्रेरित करुंगा, वे वहां बैठे-बैठे किताबें लिखेंगे, पैम्फलेट छापेंगे और जो मिलेगा उसे सबके साथ खाकर उन सब भड़कीले दम्भों से घृणा करेंगे जो शिक्षा और संस्कृति के नाम पर चलते हैं।''

प्रसंगवश उत्तरशती के एक और महत्त्वपूर्ण कवि अशोक वाजपेयी द्वारा बच्चों पर लिखित एक कविता की कुछ पंक्तियां देखी जा सकती हैं जिनमें उनकी शक्तिपूर्ण संभावनाओं में रचनाकार की गहरी आस्था को अभिव्यक्ति मिली है-

बच्चे एक दिन यमलोक पर धावा बोलेंगे
और छुड़ा ले आयेंगे
सब पुरखों को
वापस पृथ्वी पर
और फिर आंखें फाड़े
विस्मय से सुनते रहेंगे
एक अनन्त कहानी
सदियों तक

-अशोक वाजपेयी

राजेन्द्र यादव का मानना है कि आज का युग सत्ता केन्द्रों के टूटने या वैकल्पिक केन्द्रों के उभरने का युग है। इनमें सबसे जटिल और संश्लिष्ट स्थिति स्त्री के उभार की है। उभरती स्त्री-शक्ति के अनेक स्तरों में सामने दिखायी देने वाले कुछ आयामों में है-सेक्स, प्रजनन, आर्थिक निर्भरता और सत्ता में हिस्सेदारी। बहुत दूर तक यहां भी मुद्दे लगभग वही हैं जो दलित-उभार के हैं। देह, जाति और रंग में जन्म लेने की सजा भुगतने की नियति दोनों को एक करती है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि काव्य-क्षेत्र में इन दोनों उभारों की जहां कहीं भी अभिव्यक्ति हुई है उसे अलग से रेखांकित करते हुए ऐसी कविताओं में व्यक्त आक्रोश एवं तल्खी को सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया जाये-

चाहे संकीर्ण कहो या पूर्वाग्रही
मैं जिस टीस को बरसों-बरस

सहता रहा हूं
अपनी त्वचा पर /
सुई की चुभन जैसे,
उसका स्वाद एक बार चखकर देखो
हिल जायेगा पांव तले जमीन का टुकड़ा।

–ओमप्रकाश वाल्मीकि

भारत में भी बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब शरत बाबू ने अपनी शक्ति एवं सीमा के तहत 'स्त्रीत्व' का महत्व स्वीकारने के बावजूद 'स्त्रीत्व' को उससे भी बड़ी चीज माना था तो तत्युगीन शब्द-चेतन समुदाय इसे 'पत्नीत्व' व 'मातृत्व' से विलगा कर देख सकने की स्थिति में नहीं थी । यह सुखद है कि कालांतर में अक्षर-जगत के अग्रगामी परिवेश में सक्रिय लोगों के लेखन के साथ-साथ अंन्य सांस्कृतिक रूपाकारों में भी अभिव्यक्त स्त्री के आत्मबोध की पड़ताल को ऐतिहासिक जरूरत का एहसास होने लगा है। इस दृष्टि से विचारने पर उत्तरशती की हिन्दी कविता में जगह-जगह पर 'स्त्रीत्व' की उपस्थिति तथा प्रतिरोधक स्वरों को अलग से रेखांकित किया जा सकता है।

फूलों से फूटकर
गाती है लता
पतझर का शोकगीत
और तुम कहते हो
वसंत है।

–अर्चना वर्मा

पुरुष लेखकों की भाषा में पायी जाने वाली तथाकथित फैलोसेण्ट्रिक या उदग्र कसावट से भिन्न अपने तरंगायित फैलाव से युक्त भाषा में कैसे स्त्री की निजता को सकारात्मक अभिव्यक्ति दी जा सकती है, इसे सुमति अय्यर के एक काव्यांश से गुजरते हुए महसूस किया जा सकता है-

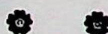
तुम इतना भर कर दो
इस जंगल और चिड़िया को बता दो
चांदनी, धूप नमी नहीं बची
तो क्या हुआ

* * *

संभावना शेष है, अब भी,
चांदनी, धूप और नमी की !

जो लोग 'स्त्रीवादी लेखन' पर अराजक आक्रामकता तथा बेजरूरत की तल्खी का आरोप लगाते हैं उनके लिए ऐसी अनेकानेक कविताएं रचनात्मक उत्तर की तरह हैं जिनमें एक सहज किन्तु आधुनिक स्त्री की बहुत सी स्त्री सुलभ कामनाएं अपने पूरे तनाव के साथ व्यक्त हुई हैं।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि उत्तरशती की हिन्दी कविता जहां एक और स्वांतत्रोयत्तर भारत को तमाम सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक चुनौतियों का रचना के स्तर पर जम कर मुकाबला करती रही है वहीं दूसरी ओर उसने प्रयोगवादी और नयी कविता के दौरान पनपी आधुनिकतावादी काव्य प्रवृत्तियों को आज हाशिए पर ला दिया है। जिसके परिणामस्वरूप एक स्वस्थ जनवादी कविता के विकास का नैसर्गिक मार्ग प्रशस्त हो सका है। स्पष्ट ही ऐसी कविताओं में कला कई बार कलाहीनता की हद तक बारीक है। इसलिए इन पर विचारने के दरम्यान पारस्परिक कलात्मक निकर्ष बहुत दूर तक काम नहीं आ सकते। अन्तत: आक्तोविया पाज़ की 'दि बो एण्ड दि लायर' पुस्तक में विचारसूत्र लेकर कहना चाहूंगा कि उत्तरशती को कई जनपक्षधर कविताओं में अनेक बार विस्मय (एक्सक्लेमेशन) का धीरे-धीरे स्पष्टीकरण या सफाई (एक्सप्लेनेशन) बन जाना जिस हद तक कविता को असफल करता है, उसी हद तक कवि की ईमानदारी को उजागर करता है।



1997 के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित

'दारियो फो'

○ डा० कृष्ण कुमार रत्तू

अपने विवादास्पद नाटकों तथा ठहाकों से गूंजती तेज जुबान के अदाकार मूलके 'दारियो फो' पिछले डेढ़ दशक से अपने लेखन, नाटक, मंचन के सीधे संवादों से चर्चित रहे हैं। उन्हें साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार मिलना अपने आप में एक 'घटना' है, 'फो' के रचना जगत और जीवन के अनछुए पहलुओं पर एक दृष्टि –सं.

'तुम उधर देखो, तो जमाना हंसेगा, तुम इधर देखो तो मैं अकेला उदास दिखाई दूंगा अब फैसला तुम्हें करना है, कि तुम किस दिशा में जाओगे। कुछ भी दिखाई न दे, कुछ भी सुनाई न दे तो, अपने ऊपर हंस लेना, इस कोहरे में डूबे लैंप पोस्ट के नीचे। हंसी-हंसी में ही तुम्हें मिलेगा, अपने अंदर का सुकून और शांति, जिसकी खोज में भटक रहे हैं.....सब......। हंसो......हंसो, खूब हंसो, उतनी देर तक जहां तक तुम्हें अपना अंदर का रूप न दिख लाए......हंसो, हंसो.....।'

यह है, दारियो फो, के एक नाटक के बोल, जिससे पता चलता है, कि उसके अंदर कितना गहरा दर्द का दरिया है, जिसे वो पार करना चाहता है। यही वो दर्द का दरिया है, जो उसके मंचीय ठहाकों के पीछे गम भरी जिंदगी के कई रास्ते खोलता है।

'इतालवी में एक कहावत है, 'राजा सामने है, तो राजा है, नहीं तो दूसरा है।' फो अपने मंच से जब यह कहते हैं, ''कि तुम्हारे सामना वाला ''मैं'' जो हूं, मैं ही, वो राजा हूं, जिस पर आप विश्वास कर सकते हैं, वो मैं ही हूं, जो तुम्हें दिलासा दे सकता है। जिसके भरोसे तुम बैठे हो, वह अब तुम्हारी मदद करने वाला नहीं है– हंसो, उस पर हंसो, जो छिपके कहीं दूर बैठा है–'' हंसो......ठहाका ?

इस तरह के तीखे व्यंग बाण चलाने वाले दारिया फो पिछले दो दशकों से विश्व रंगमंच और फिल्म तथा लेखन से इस तरह का कमाल करते फो को भी कभी यह नहीं लगा था कि उसको भी कभी नोबेल पुरस्कार मिल जाएगा।

पर उसकी पुरस्कार पहली प्रतिक्रिया थी, यह सच है तो कमाल है, मैं इससे अचंभित हूं।

''फो आज विश्व के उन रंगकर्मियों में से है, जिन्हें साहित्य, नाट्य तथा अभिनय के युग का मसीहा कहा जा सकता है, तभी तो उसके इस चुनाव पर स्वीडिश अकादमी ने प्रशस्ति में कहा कि ''फो, एक गंभीर ठहाके लगाने वाला लेखक नाटककार है, जो अपने को एक स्थान पर ऐतिहासिक भूमिका में स्थापित करके अत्याचार और अन्याय को पास से देखते हुए आपको समूचे विश्व के साथ जोड़ते हैं। उनके ठहाकों से आपको लगता है कि कहीं न कहीं विश्व अभी भी जिंदा है तथा इस दुख भरी दुनिया में आप अकेले नहीं है। आप जैसे हजारों और हैं, जिन्हें आप जैसा समस्याओं तथा चिंताओं ने घेर रखा है।''

फो कभी-कभी सीधे बाणों से सरल भाषा में अपनी बात भी कहते हैं। इनके इस ऐतिहासिक किरदार में इतालवी मिथिक परंपरा के किरदार रहते हैं जिनके माध्यम से यह दर्शकों/पाठकों को बांधते हैं और उन पर इनकी पकड़ अति-आधुनिक पहुंच वाली है और सीधा प्रभाव देती है।

दारियो फो को एक ऐसे चिंतक के तौर पर याद किया जाता है, जो हमेशा विवादों में घिरे रहे हैं। वे भले नाटक के माध्यम से हों, लेखक के माध्यम से या, अभिनय के माध्यम से। फो ने अभी तक जो भी किया, वो एक दम सरलता से सबने स्वीकार कर लिया हो, एक दम सत्य से परे है। उनके इस विवादों भरे व्यक्तित्व के पीछे उनकी तेज आंधी जैसी जिंदगी भी रही है। फो को अब लगंने लगा है कि इसी में ही आदमी जिंदा-अच्छी तरह जिंदा रह सकता है। आज जो फो के आलोचक हैं, वे इस बहस को भी हवा दे रहे हैं कि उसे पुरस्कार मिलना ही भूल है, वो इसके योग्य नहीं है, क्योंकि उसने किसी को भी बख्शा नहीं है। अपने शब्दों के तेज वाक्यों से स्टेज पर थिरकते हुए 'फो' अपने को नहीं छोड़ते शायद यही उनकी सबसे बड़ी खूबी है, क्योंकि अपने पर मुस्कराना सबसे मुश्किल कार्य है और व्यंग करना उससे मुश्किल कार्य।

'फो' का मानना है, जब तक हम अपने आप से सच नहीं बोलेंगे-तो फिर विश्व के लिए क्या कर पायेंगे। आज के युग का सच यही है कि आप अपने को अपने सामने नंगा देखो, तभी तुम्हें नंगा राजा दिखाई देगा। दूसरे शब्दों में अपने अंदर के सच को आत्मसात करने की हिम्मत करना है।

दारियो फो का बचपन

मिलान के छोटे से उपनगरीय पहाड़ी बर्फ से घिरे एक गांव में दारियो का जन्म हुआ। बहुत शीघ्र ही यह परिवार महानगर में बस गया। पढ़ाई स्कूल से लेकर अ़भिनय की कक्षा तक उसने महानगर में ही प्राप्त की ।

दारियो इस समय अपने 71वें वर्ष में चल रहे हैं। उनका मानना है, उन्होंने 35 वर्ष तक जो अभिनय और कालेज अकादमी की पढ़ाई की और स्टेज पर सीधा अभिनय जो किया, उसी ने उसे इस काबिल बनाया कि आज बदलते फिल्मी युग में वे अपने को रंग मंच का सितारा मानते हैं।

1960 के दशक में वे पहली बार 'द नेकेड' किंग से प्रचलित हुए। इसमें उन्होंने पुरातन परंपरावादी किरदारों के मिथिकों को पहली बार स्टेज पर अभिनीत किया और पूरे देश में चर्चित हो उठे।

फो, का बचपन एक ऐसे घर में बीता जहां सारा दिन लोगों का तांता लगा रहता था। कारण था, उनकी माता-पिता की सामाजिक सक्रियता।

अपने बचपन के 20 वर्ष अर्थात् 1946 के विश्वयुद्ध के घावों को उसने देखा तथा भोगा भी। इसी कारण फो आज भी उनको भूलने से भूल नहीं पाते हैं।

30 वर्षों के फो को कई नाटक मंडलियों में काम करने का न्यौता मिला और उन्होंने पीछे लौटकर नहीं देखा है।

दारियो फो का रचना संसार

दारियो पहले ऐसे रचनाकार हैं, जो सचमुच एक हरफन मौला हैं। वे चिंतन पर, विशेषकर इतालवी मिथिक चिंतन पर पुस्तकें पढ़ते हैं और उस पर समय मिलते ही व्याख्यान भी देते हैं। यह सिलसिला पिछले कई वर्षों से जारी है। 'द नेकेड किंग' से चर्चित हुए 'फो' जिस का मूल इतालवी में अर्थ महकता फूल है। अपने नाम की तरह ही खुशबू फैला रहे हैं हालांकि पुरातनपंथी और आधुनिकतावादियों के बीच वे बराबर चर्चा में रहे हैं और कहना होगा आज विश्व के जो चिंतक तथा लेखक बेहद चर्चा में हैं, उन्हीं में से हैं, एक फो।

28 वर्ष की उम्र में इटली की सर्वाधिक चर्चित तथा खूबसूरत अभिनेत्री फ्रांसा रामे से शादी करने के बाद उन्होंने सफलता के कई नये सोपान तय किए हैं। उन्होंने एक नाटय कंपनी बनाई थी, इस तरह मंच पर छा गये, जैसे पैदा ही इसके लिए हुए हों।

अब तक फो ने 129 से त्रहसन अर्थात् राजनैतिक पृष्ठभूमि, किरदारों वाले नाटकों की रचना की है, और उल्लेखनीय यह है कि वे सब मंचित हो चुके हैं अभी हाल ही में उनके कई नाटक कई देशों में चर्चा में आये।

उनके नाटकों पर और पुस्तकों पर 1977 में रोमन कैथोलिक ने पाबंदी लगा दी थी। उनके सर्वाधिक चर्चित मंचित नाटकों में 'मिस्टरो बूफो' (Mistero Buffo),ऐक्सीडेंटल डैथ आफ एन एनार्किस्ट (Accidental Death of an Anarkist) ''वर्ल्ड आफ फिफटींथ सैंचेरी''(World of Fifteenth Centruy) और 'द' डेविल विद ब्रेस्ट्रस है।

उनके इन नाटकों के अलावा उन्होंने कई फिल्मों की पटकथा, डायलाग इत्यादि भी लिखे हैं, विशेषकर अपनी अभिनीत फिल्मों के।

रंगमंच के बिना, एक प्रखर चिंतक और सामाजिक सरोकार से गहरे जुड़े हुए व्यक्ति फो आज इस युग में बेहद विवादास्पद व्यक्ति तथा कलाकार रहे हैं।

अपने इन नाटकों की वजह से ही 1960 में उनके पूर्ण साहित्य, फिल्म और नाटकों पर इतालवी सरकार ने पाबंदी लगा दी थी। इतालवी रेडियो टी.वी ने भी यह पाबंदी लगा दी थी।

अपने नाटकों के मंचीय रचना-संसार में व्यंग्य, पैरोडी, सीधा संवाद संप्रेषण, इनकी विशेषता गिना जाता है। उदाहरण के लिए ''मिस्टरोबूफो'' को पढ़ें अथवा देखें तो पता चलता है कि उसमें आधुनिक भावबोध को परंपरा के साथ जोड़कर कितने विशिष्ट ढंग से देखने का प्रयास किया गया है। मिस्टरोबूफो, जो सीधे-साधे ईसाई धर्म की पुरातन रिवायतों को तोड़ता और चर्च के पाखंडों को नंगा करता है। आज यह सबसे ज्यादा लज्जाजनक है कि हम लीक से हटकर सोचना ही नहीं चाहते। वे अपने एक पात्र वाले इस गंभीर नाटक के जरिये खिलखिलाहट में ही अपनी बात कहते हैं।

एक पात्रीय मंचीय-जुगतो से लबरेज इस नाटक ने उन पर पाबंदी लगवा दी थी परन्तु उसने पूरी दुनिया में चर्च के पाखंड को जरूर नंगा कर दिया। 1977 में रोमन कैथोलिक चर्च ने इस पर विश्व पाबंदी की घोषणा की थी और उन्हें अमेरिका ने वीसा तक मना कर दिया गया था।

'दे डेविल विद ब्रेस्टस' में उन्होंने नुक्कड़ नाटकीय शैली में मानवीय दंभों को उजागर करने में महारत हासिल की है। इनमें उनकी अभिनेत्री बनी रामे भी उनकी विशेष सहयोगी है।

'एक जोकर को ताज दो और उनकी प्रजा को भूख। सब चुप हो जाओ, राजा नंगा है।' जैसे शब्दों के रचयिता दारियो एक्सीडैंटल डैथ आफ एनारकिस्ट में यही संदेश देते हैं।

.अपने पात्रों के माध्यम से दारियो ने में रचना संसार जो प्रतिबद्धता अपनाई है , वो शायद किसी और के हिस्से नहीं आई है। वे कहते हैं, मैं तो अपनी गलतियों पर नाकामियों पर हंसता हूं। थियेटर में ठहाकों की गूंज में अपना दर्द ही तो छिपाता हूं।

फो का मानना है कि कहीं न कहीं आपकी अभिव्यक्ति में आपकी रचना धर्मिता ही तो शामिल होती है। आपका दर्द भी अपनी जुबानी आपसे बातें करता है।

'जोकर, राजा, कैदी, राजनेता, तथा मसखरे, उनके मनपंसदीदा पात्र हैं। जिनके आस-पास वे पाखंड को नंगा करते हैं और आदमी के भीतर क्या हो रहा है, इस पर नज़र दौड़ाते हैं। इसी के जरिये वे अन्याय पर उंगली रख देते हैं कि दर्शक और पाठक अंदाजा ही नहीं लगा सकते हैं कि वे कब क्या कह गये।'

फो ने यह भी माना है कि साहित्य मंच के जरिये इन समस्याओं का निराकरण का जो बीड़ा उन्होंने उठाया, वे विवादास्पद रहा है। परंतु इनाम के बाद उन्हें लगता है जिन राजनैतिक कारणों से लेखकीय आज़ादी, चीन, तुर्की, अलजीरिया इत्यादि ने छीनी है उसके पक्ष मजबूत हुआ है और लगा है, कि सत्य अभी बाकी है, जिंदा है और उसकी जीत निश्चय है।

फो को अभिनेता होने के साथ घूमने का बेहद शौक है और समय मिलते ही वे उसके लिए निकल पड़ते हैं।

नये व्यक्तियों की खोज में वे कई बार अभी भी गांवों का दौरा करते हैं और पंरपराओं को टूटता-जुड़ता हुआ देखते हैं।

दारियों फो को साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिलना मूलतः लेखकों को अच्छा भले ही न लगे परंतु समय का सच यही है कि शब्द शक्ति को मंच के माध्यम से आंख से आंख मिला कर प्रकट करना इस समय विश्व की सब से बड़ी जरूरत है और इसमें दारियो का कोई सानी नहीं है। दारियो जिसे सबसे मिलवाते हैं वो कितना अपना है, यही है सच का एक पन्ना। इस अवसर पर दारियो फो को सलाम।



मनन

प्रश्न उपजाती है कथा सत्यकाम जाबाल की

○ प्रो० राम नाथ शास्त्री

उपनिषदों के रचना-काल की एक बस्ती। बच्चों की रौनक से रसते-बसते घर। समतल मैदान में बहते दरिया की तरह, ऊपर से शान्त, लेकिन ऊपरी सतह के नीचे छोटी-बड़ी लहरियों की हलचल। हज़ारों बरस पुरानी बात है, इस लिए बस्ती की जान-पहचान कुछ भी नहीं। वह बस्ती भी, अपनी समकालीन दूसरी अनेकों बस्तियों की तरह गुमनामी के अन्धेरों में लुप्त हो गई होती, लेकिन वह बस्ती, वहां होने वाले एक असाधारण बालक और उसकी असाधारण मनस्विनी जननी के कारण उपनिषद-साहित्य में चमकते बिन्दु के समान सम्मान का प्रतीक बन गई है।

बालक का नाम था सत्यकाम और उसकी माता, जिसने उसको यह नाम दिया था, जबाला कहलाती थी। हम अक्सर लोगों को कहते सुनते हैं कि-''भला-नाम में क्या रखा है ?'' इस बात में सच्चाई है, क्योंकि शैशव में रखे गए नाम के अनुरूप, उस शिशु के बड़े होने पर उसके जीवन का विकास प्रायः नहीं होता लेकिन ज़बाला ने जब अपने शिशु के लिए 'सत्यकाम' नाम चुना था तो उसके पीछे मां के हृदय में एक बड़ी साहसपूर्ण आस्था काम कर रही थी। सत्यकाम अर्थात् केवल सत्य की कामना करने वाला, केवल सत्य को खोजने वाला। बड़े हौसले और साहस की बात थी यह एक मां ने अपने शिशु के लिए इस नाम का चयन करते हुए यह कामना की थी कि मेरा यह शिशु जीवन-संघर्ष में केवल सत्य की अवधारणा को ही अपना एकमात्र आदर्श मानेगा। ''सच की खोज करना, जीवन को सत्य की, तलवार की धार जैसी डगर पर चलाना, अत्यन्त चुनौती-पूर्ण संकल्प है। क्योंकि ''सच का घेरा'' बड़ा व्यापक होता है। इस घेरे के बाहर कुछ भी नहीं रहता। अपने माता-पिता के प्रत्यक्ष और परोक्ष जीवन भी।''

कितने माता-पिता, सच्चे मन से चाहते हैं कि उनकी सन्तान, उनके मुखौटों को भी हटा कर, उनके वास्तविक चेहरों को देख सकें, उन्हें पढ़ सकें। संसार के दूसरे माता-पिताओं की हम क्या कहें, लेकिन सत्यकाम की माता जबाला ने अपने बेटे को

यह नाम इसी कामना से दिया था कि वह जीवन में केवल सत्य की खोज करे, सत्य को पहचाने और सत्य की डगर पर चले।

वैदिक काल की वह मां, मुझे लगता है कि उस काल में भी बड़ी असाधारण महिला थी। केवल इस लिए नहीं कि सत्य के मर्म को जानते पहचानते हुए भी उसने अपने बेटे का नाम सत्यकाम रखा था, अपितु इस लिए भी कि उसने अपने व्यक्तिगत जीवन की उलझन भरी दास्तान का समस्त उत्तरदायित्व साहस के साथ स्वीकारा था और इस बोझ को अपने कंधों पर उठाए वह महिला अपने समय के उस समाज में, बिना किसी हीन-भावना के, जीवन बसर करती रही थी।

जबाला की इस असाधारण गाथा का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद में सुरक्षित कर दिया है एक साहसी वैदिक ऋषि ने। सत्यकाम के लिए, सच्चाई के इस अल्पाकार घेरे में सब से प्रमुख वस्तु, उस बस्ती में उसका अपना छोटा घर था, अपने पास-पड़ोस के कुछ और घर थे और उन घरों में, उसके हम उम्र साथी लड़के थे तथा अपनी मां थी। शनैः शनैः दूसरे लड़कों से परिचय होता गया। इस तरह उसकी अनुभूति का जगत फैलने लगा। सत्यकाम के मन में जिज्ञासाओं के नित्य नए अंकुर फूटने लगे। अनेकों नई बातें वह जानने लग गया।

उसके साथ खेलते हुए उसके सम-व्यस्क बालकों ने, एक दिन उसे सुनाया कि कल वे सब, बस्ती से दूर स्थित किसी गुरुकुल में विद्यारम्भ करने के लिए, प्रवेश पाने के लिए अपने अभिभावकों के साथ जाएंगे। वहां उनका उपनयन संस्कार किया जाएगा और फिर वे गुरुकुल के आश्रम में ही रहने लगेंगे।

सत्यकाम अपने साथी बालकों की यह बात सुन कर प्रसन्न नहीं हुआ। कल यदि ये सभी साथी गुरुकुल में चले जाएंगे तो मैं अकेला यहां किस के साथ खेलूंगा ? अपने एक साथी के अभिभावकों को आता देख कर सत्यकाम ने उनसे पूछा, "भन्ते, बस्ती के बहुत से लड़के कल गुरुकुल में प्रवेश पाने के लिए जा रहे हैं। गुरुकुल में प्रवेश कैसे मिलता है ?"

अभिभावक ने कहा, "वत्स अपने-अपने अभिभावकों के साथ ये बालक वहां जाएंगे। बालकों के अभिभावकों की उपस्थिति में उनका वहीं उपनयन संस्कार किया जाएगा। उसके पश्चात् अभिभावक, बालकों को गुरुकुल में शिक्षा देने वाले गुरुओं में से उस गुरु के पास ले जाएंगे जो बालक को उसके लिए उपयुक्त विद्या पढ़ाने में कुशल है । वहां वह शिक्षक बालक से, उसके कुल, गोत्र तथा पिता के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। यदि गुरु बालक द्वारा दी गई जानकारी को उपयुक्त और

ग्राह्य मान लेता है तो बालक को गुरुकुल में प्रवेश मिल जाता है और फिर, जब तक बालकों का विद्यार्थी-जीवन चलता रहता है, बालक गुरुकुल में ही रहते हैं।''

सत्यकाम ने, मन में निश्चय कर लिया कि वह भी अगले दिन, बस्ती के बालकों के साथ गुरुकुल में प्रवेश पाने जाएगा। दूसरे दिन जब सत्यकाम वही अपने गुरु के सन्मुख गया तो गुरु ने उससे पूछा-''बेटा, तुम्हारा गोत्र क्या है ?''

सत्यकाम ने बड़ी सहज सरलता से उत्तर दिया :

''गुरुदेव, मुझे मेरा गोत्र मालूम नहीं। क्योंकि किसी ने मुझे मेरा गोत्र नहीं बतलाया। मुझे केवल मेरा नाम मालूम है।''

''क्या है तुम्हारा नाम'' ?

''सत्यकाम, गुरुदेव'' ।

''बेटा, कल अपने अभिभावक को साथ लेकर आना और उससे अपना गोत्र पूछ लेना।''

सत्यकाम गुरुकुल से घर लौटा तो सीधा अपनी माता के पास जाकर बोला-''मां, मेरा गोत्र क्या है ?''

जबाला ने उसे पूछा-''तू गया कहां था ?''

''गुरुकुल। गुरुकुल में प्रवेश पाने, लेकिन गुरु जी ने पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है ? तो मैं उन्हें क्या उत्तर देता ?''

जबाला ने बालक के मुख की ओर निहारा और वह समझ गई कि वह घड़ी आ गई है, जब अपने अतीत जीवन की गाथा सत्यकाम को सुना देनी होगी।

उसने सत्यकाम को अपने पास बैठने को कहा और बड़ी शान्त गम्भीरता से बोली''बेटा, मैं भी नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। क्योंकि मैं नहीं जानती कि तुम्हारा पिता कौन है, यौवनावस्था में पहुंच कर मैं अनाथ हो गई थी। मेरे पिता-माता दोनों दिवंगत हो गए थे। तब अपने निराश्रित जीवन के निर्वाह के लिए मैं कई प्रतिष्ठित, सम्पन्न घरों में सेवा-कार्य करने को बाध्य हुई थी। उसी पराश्रित दासी-काल में मैंने तुझे पाया था। मैं नहीं जानती कि तुम्हारा जनक कौन है? लेकिन वत्स, तेरी अभिभावक मैं हूं, तेरी माता। मेरा नाम जबाला है और तेरा गोत्र है जाबाल। इस लिए यदि तुमसे कोई तेरा गोत्र पूछे तो कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूं। क्योंकि मैं जबाला का पुत्र हूं ।''

कौन जाने कि वैदिक काल के प्रतिष्ठित वर्ग के लोगों के द्वारा, एक अबला नारी के प्रति किए गए इस अनाचार की बात सत्यकाम की समझ में आई थी या नहीं। लेकिन उसके कोमल मन को एक संतोष हो गया कि अब वह पूछने पर अपना गोत्र बतला सकता है।

इसी सात्विक उत्साह से भरा हुआ सत्यकाम, दूसरे दिन गौतम ऋषि की सेवा में जा पहुंचा। ऋषि को नमस्कार किया। ऋषि ने प्यार से उस सौम्याकृति बालक को पास बिठाया और पूछा :

o "वत्स, तुम्हारा गोत्र क्या है ?"

उसने सहजता से उत्तर दिया–

"गुरुदेव, मेरा गोत्र जाबाल है। मेरा नाम सत्यकाम है। मैं सत्यकाम जाबाल हूं। क्योंकि मेरी माता का नाम जबाला है।"

"और तुम्हारे पिता का नाम ?" गुरु ने पूछा।

"पिता का नाम मुझे ज्ञात नहीं ।"

"पिता का नाम तुम्हें ज्ञात नहीं ? क्या तुम्हारे पिता जीवित हैं ?"

"मैं यह भी नहीं जानता, गुरुदेव।"

"क्या तुम्हारी माता ने तुम्हे बतलाया नहीं कि तुम्हारे पिता कौन हैं तथा उनका गोत्र क्या है ?"

"नहीं गुरुदेव ! मेरी माता भी नहीं जानती कि मेरे पिता कौन हैं । मैंने उनसे पूछा था कि मेरा गोत्र क्या है, तथा मेरे पिता कौन हैं ?"

"तो तुम्हारी माता ने क्या उत्तर दिया वत्स !"

"उन्होंने मुझे बतलाया कि अपने असहाय यौवन-काल में, जीवन-निर्वाह के निमित्त उन्हें कई प्रतिष्ठित सम्पन्न घरानों में दासी के रूप में काम करना पड़ा था. उन्हीं दिनों उन्होंने मुझे पाया था। उन्हें नहीं मालूम कि मेरा जनक कौन है। लेकिन उन्होंने मुझे कहा कि यदि कोई तुम्हारा गोत्र पूछे तो कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूं। मेरा गोत्र जाबाल है क्योंकि मेरी माता का नाम जबाला है ।"

गौतम ऋषि नन्हें सत्यकाम के मुख को निहारते रहे। वे उसकी बातों को रुचिपूर्वक सुनते रहे। वे उसकी सरलता और सौम्यता पर मुग्ध हो गए। सत्यकाम के इस आत्म-विश्वास में उन्हें उसकी माता का तथा उसके उस अज्ञात पिता का ओज नज़र आया।

गौतम ऋषि ने सत्यकाम को अपने आश्रम में रह कर पढ़ने की अनुमति दे दी। सत्यकाम ने आश्रम में रहते हुए गुरु के आदेश का पालन करते हुए, आश्रम के गो-धन की कैसे कैसे सेवा की ? अथवा वहां रह कर उसने कौन-कौन सी विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया ? ये सभी बातें अपनी जगह पर महत्वपूर्ण हैं, ज्ञातव्य हैं, लेकिन सत्यकाम की इस कथा ने मेरे मन में कुछ और ही जिज्ञासाएं उत्पन्न कर दी थीं।

---

o "तं हो वाय किं गोत्रो नु सौम्यासि इति ।।"

पहला और प्रमुख प्रश्न तो यही था कि यह जबाला कौन थी ? इस की वर्ण-जाति क्या थी ? उपनिषद्-काल में भी क्या किसी तरुणी का इतना असहाय होना स्वाभाविक था ? समाज में क्या सिर्फ कुलीन और अकुलीन यही दो वर्ग थे ? अथवा साधन-सम्पन्न तथा साधन-विहीन, ये दो वर्ग ही उस समय भी सामाजिक विभाजन की यथार्थ स्थिति के सूचक थे ?

जबाला का साधन-विहीन होना तो संभव लगता है, लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि एक असहाय, और श्रमजीवी सुन्दर तरुणी, समाज के उन अभिजात्य (कुलीन) सम्पन्न घरों में अपने शील की रक्षा क्यों नहीं कर सकी ? इस तरह की दास-प्रथा से उस समय के समाज की गरिमा और प्रतिष्ठा मलिन नहीं होती ? उस वैदिक काल में सम्पन्न वर्ग के लोग, असहाय सेविकाओं को काम-क्रीड़नक (खिलौना) क्यों समझते थे ? क्या उन ऊंचे वर्ण के सम्पन्न लोगों का यह अनैतिक व्यवहार उस समाज में प्रचलित स्मृति-शास्त्रों द्वारा अनुमोदित रहा होगा ? इस अधिकार का ऐसा दुरुपयोग इतना व्यापक क्यों था कि जबाला जैसी तीव्र भावनाओं वाली महिला को भी यह ज्ञात म हो सका कि उसकी कोख से जिस बालक ने जन्म लिया है उसका जन्मदाता कौन था ? कौन सी आचार-संहिता से अनुमोदित था यह अनैतिक, उच्छृंखल व्यवहार ?

एक अन्य जिज्ञासा जगी कि छान्दोंग्य उपनिषद् जैसी वैदिक रचना में जबाला की इस कथा को गौरव का स्थान देकर इसे अजर-अमर कर देने वाला वह साहसी ऋषि कौन था ?

सत्यकाम को, गोत्र-हीन होने पर भी, गौतम ऋषि ने आश्रम में (गुरुकुल में) विद्यार्थी के रूप में अंगीकार कर लिया था, क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि ऐसा तेजस्वी बालक ब्राह्मण (?) की ही सन्तान हो सकता है। वर्ण-व्यवस्था के प्रति गौतम ऋषि का यह दुराग्रह भी मन में अभिनन्दन की भावना को जन्म नहीं देता। निरीह दासी से ऐसा दैहिक सम्पर्क करने वाले उस सम्पन्न ब्राह्मण की सन्तान क्या केवल इस लिए गुरुकुल में ब्रह्मविद्या सीखने की अधिकारी समझी गई क्योंकि वह जन्म से किसी ब्राह्मण की सन्तान है ? उसके उस जनक ब्राह्मण की आचार-हीनता, उस अवैध सन्तान को जन्म देने का यह कुकर्म क्या उस ब्राह्मण के, जन्म-जात ब्राह्मणत्व के गौरव को धूमिल नहीं करती ?

मेरी जिज्ञासा उस समय की गुरुकुल-पद्धति के बारे में भी मन को विचलित कर जाती है। गुरुकुल में प्रवेश के समय सत्यकाम 9-10 वर्ष से अधिक आयु का नहीं रहा होगा। गौतम ऋषि ने उसका उपनयन संस्कार करके, आश्रम की चार सौ कृष,

दुबली, उपेक्षित गाएं उसे देकर वन में भेज दिया था कि इन पशुओं के साथ जंगल की चरागाहों से तब लौटना, जब इन सब का दुबलापन दूर हो जाए और ये सुन्दर और स्वस्थ हो जाएं। एक अल्पायु का बालक, गुरुकुल में इस लिए गया था कि वह गुरु जी की सेवा करेगा और विद्या का प्रकाश पाएगा, लेकिन उसे गुरु जी ने कैसे कठिन कार्य का उत्तरदायित्व सौंप दिया । जंगल तो जंगल ही होता है, उसमें पशुओं के चरने की सुविधा तो होती थी लेकिन, पशुओं के लिए खतरे भी तो हो सकते थे। क्या एक बालक इतने पशुओं को अपनी नजर में रखते हुए उन्हें हिंस्र पशुओं के आतंक से सुरक्षित रखने की सामर्थ्य रखता था ? नन्हें शिशुओं से इस तरह का कड़ी परिश्रम करवाना, व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता।

और क्या यह गौतम ऋषि वही थे, जिन्होंने अपनी धर्मपत्नी अहिल्या का परित्याग करके उसे घर से इस तरह निकाल दिया था कि देवताओं के राजा इन्द्र ने गौतम ऋषि का रूप धारण करके उस भोली महिला से कपट-क्रीड़ा की थी। गौतम ऋषि ने राजा इन्द्र को इस जघन्य अपराध करने का क्या दण्ड दिया था ?

प्रश्न उपजाती है कथा सत्यकाम जाबाल की......।



कश्मीर के प्रखर प्रतापी सम्राट ललितादित्य-मुक्तापीड़

O डा. बदरीनाथ कल्ला

कश्मीर के प्राचीन सम्राटों के नक्षत्र में ललितादित्य अप्रतिम हैं। उनकी प्रसिद्धि एक सुयोग्य शासक और अनुपम सेनापति के रूप में केवल भारत तक ही सीमित न रही, अपितु प्राकृतिक सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई उत्तरोत्तर फैलती गई।

कल्हण ललितादित्य के शासन का वर्णन करते हुए इनकी प्रशंसा में लिखते हैं:– ''तारापीड़ के बाद उसका छोटा भाई ललितादित्य राजसिंहासन पर बैठा। यद्यपि विधाता ने उसे प्रादेशिक राजा ही बनाया था, किन्तु वह उसकी बुद्धि से अगोचर होकर सार्वभौम राजा बन गया।''

ललितादित्य कार्कोट वंश के सपूत थे। वे द्वितीय प्रतापादित्य का सबसे छोटे लड़के थे जो दुलर्भक नाम से भी प्रसिद्ध थे। इनकी मां का नाम नरेन्द्र प्रभा था। ललितादित्य अपने दो बड़े भाईयों चन्द्रापीड़ तथा तारापीड़ के बाद कश्मीर के राजसिंहासन पर बैठे। अपनी प्रजा के साथ अत्याचार के कारण इसके दोनों भाई जादू के द्वारा मारे गये थे। इनकी दो रानियां थीं। एक का नाम कमलावती तथा दूसरी का नाम ईशाना देवी था। उन्होंने दो–पुत्रों कुवलयापीड़ और जयापीड़ को जन्म दिया। कश्मीर में ललितादित्य के शासनकाल की घटनाओं का उल्लेख विदेशी इतिहासकारों ने भी किया है। चीनी दस्तावेज़ों में वह ''मुक्तोपि'' के नाम से ख्यात है। उन्होंने चीन के दरबार में 718 ई० में और दूसरी बार 736 ई० में अपना राजदूत भेजा 'मुक्तोपि' वस्तुत: इनके असली नाम 'मुक्तापीड़' का अपभ्रंश है। इसके अतिरिक्त तुर्की इतिहास में 'ओकोतक मुक्ता पीड़' का हवाला मिलता है जिससे यह संकेत मिलता है कि वह काबुल की घाटी तक साहसी योद्धा के रूप में आये। इन विदेशी दस्तावेज़ों से यह स्पष्ट होता है कि मुक्तापीड़ ने अपने दौर में इतनी कीर्ति तथा ख्याति प्राप्त की थी जिससे विदेशी इतिहासकार भी इनके अद्वितीय व्यक्तित्व से प्रभावित हुए।

ललितादित्य ने अड़तीस वर्ष 699–736 ई० तक शासन किया। इसका प्रमाण हमें विदेशी इतिहासकारों से भी मिलता है। इनका प्रथम तथा प्रसिद्ध अभियान कन्नौज के शासक यशोवर्मा के विरुद्ध था। राजा यशोवर्मा को चीनी दस्तावेज़ों के अनुसार मध्य भारत का शासक माना गया है। इन दस्तावेजों का नाम–ए–दा–फोन–मो दर्ज है।

कश्मीर के राजा ललितादित्य ने यहां वर्मा को परास्त किया और उसको सिंहासन से हटा दिया। इस विजय से सेनापति के रूप में उन्होंने संसार में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की। उन्होंने जालन्धर और पुंछ को अपने साम्राज्य के साथ मिला दिया। बाद में वह सिन्धु नदी को पार करके काबुल घाटी के नीचे गांधार (कंदहार) की ओर चल पड़े। परिणामस्वरूप वह वहां के राजकुमारों को अपना दास बनाने में सफल हुए। वे कई राजकुमारों को अपने साथ कश्मीर लाये और उन्हें अच्छे पदों पर नियुक्त किया। कल्हण इस बारे में आगे लिखते हैं कि ललितादित्य ने सारे भारत में विजय की यात्रा आरम्भ की जिसे 'दिग्विजय' के नाम से पुकारा जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने पूर्व में बंगाल से उड़ीसा तक सारे प्रान्त, दक्षिण में काठियावाड़ तक तथा पशिचम में अफगानिस्तान तक अपना साम्राज्य बढ़ाया। उत्तर में इस कश्मीरी सम्राट ने ओक्स नदी के निकट तुखारों (तुर्किस्तान व बदखशान के राजाओं) को परास्त कर दिया। वे अपने सात चिङ्कुण नाम के एक प्रतिभा सम्पन्न तथा योग्य तुर्की नवयुवक को लाये और मंत्री के पद पर नियुक्त किया।

ज्ञान व विज्ञान का अनुरागी :–यद्यपि ललितादित्य ने अपना सारा जीवन दिग्विजय में ही बिताया तथापि वे ज्ञान विज्ञान के शौकीन थे। कन्नौज के राजा यशोवर्मा को परास्त करने के बाद ही वह अपने सात अत्रिगुप्त नामक एक ब्राह्मण-विद्वान को कश्मीर लाये और वितस्तर (वर्तमान-झेलम) के किनारे पर आवास के लिए एक भव्य भवन बनवा दिया तथा उन्हें अग्रहार प्रदान किया। शैवदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त के पूर्वज यही अत्रिगुप्त माने जाते हैं। इन्होंने बौद्ध आचार्यों का भी संरक्षण किया और उन्हें प्रत्येक प्रकार की सुविधा प्रदान की।

कल्हण इनके ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित होकर 'राजतरंगिणी' में इस प्रकार वर्णन करता है :–"इसने कई देशों से विभिन्न प्रकार के बुद्धिजीवियों को इस तरह संग्रहीत किया जिस तरह आंधी विभिन्न वृक्षों के खिले हुए फूलों का संग्रह करती हैं ।"

ललितादित्य परमवीर तथा विजयेच्छुक होते हुए भी वास्तुकला का शौकीन था। उन्होंने इस कला को कश्मीर के विभिन्न क्षेत्रों में साकार रूप देने के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाया था। जिसका प्रमाण लोकपुण्य (कश्मीरी में लूक भवन) ललितपुर (कश्मीरी में ल्यतपुर) और परिहासपुर (कश्मीरी में परसपुर) जैसे जगहों की नींव डालने से मिलता है। ये ध्वंसाविशेष आज भी राजा की गरिमा-गाथा कह रहे हैं। लोक पुण्य नाम का कस्बा ब्रंग पुरगणा (परगना) में स्थित है। यहां एक बहुत सुन्दर चश्मा है। नजदीक ही प्राचीन पत्थरों की मूर्तियां सैंकड़ों वर्षों के बाद भी यादगार के रूप में दिखाई देती हैं। अब यह पर्यटन का प्रमुख स्थान है।

इस समय यहां केसर की लम्बी क्यारियां दिखाई देती हैं। ज़मीन पर पुराने स्मृति चिन्ह देखने में नहीं आते हैं शायद ये केसर की क्यारियों के नीचे दबे हुए हों। ललितपुर (क. ल्यतपोर) इस समय श्रीनगर से प्रायः बारह किलोमीटर की दूरी पर राष्ट्रीय मार्ग पर स्थित है। परिहासपुर इस सम्राट का ग्रीष्मकालीन स्वास्थ्यप्रद स्थान था। उन्होंने इसे बहुत ही आकर्षक बनाया था। अतः उन्हें इस स्थान के साथ मानसिक लगाव था। इसका वर्णन करते हुए कल्हण लिखता है :-इस कस्बे की सुन्दरता ने इन्द्रपुरी की सुन्दरता को भी पीछे कर दिया था। इस कस्बे के नाम से ही यह मालूम होता है कि यह कस्बा आमोद-प्रमोद का स्थान था। यहां एक देवालय भी था जहां राजा निरन्तर युद्ध से वापिस आकर मानसिक शांति प्राप्त करता था। परिहास पुर श्रीनगर के उत्तर में प्रायः बारह मील की दूरी पर सड़क के बायीं तरफ स्थित है।

ललितादित्य ने हिन्दुओं और बौद्धों के लिए मन्दिर, विहार (विहा[illegible] अपभ्रंश कश्मीरी में 'यार' बन गया है) तथा चैत्य आदि का निर्माण करने के लि[illegible] बड़ी उदारता से काम लिया। ''अपनी विजयों से प्राप्त किये खज़ाने को पाकर वह अपने देश की ओर उसी तरह लौट गये जैसे सिंह मारे हुए हाथी के मोतियों को अपने पंजे में लेकर पहाड़ की तरफ ले जाता है।'' ये खज़ाने उसने यादगारों और मन्दिरों के निर्माण पर समर्पित किये। हुष्कपुर में (बाराहमूला में उष्कुर) विष्णु का एक भव्य मन्दिर बनवाया जिसका नाम मुक्तास्वामी रखा। उन्होंने पत्थरों से एक आलीशान शिव मन्दिर का निर्माण कराया जो 'ज्येष्ठरुद्र' के नाम से विख्यात है। इस उदारशील दानशील राजा ने मार्त्तण्ड का एक आकर्षक मन्दिर निर्मित कराया जो इस समय भी वास्तुकला की दृष्टि से सारे भारत में प्रसिद्ध है। इस मार्त्तण्ड-मन्दिर के विषय में श्री रामचन्द्र काक लिखते हैं :-यह वह सुन्दर जगह है जो वैविध्यपूर्ण गरिमा का आभास देती है जिससे इन खण्डहरात का दृश्य हमेशा पर्यटकों के दिलों को प्रेरित करता है।

वितस्ता (कश्मीरी में व्यथ) के दायें किनारे पर चक्रधरपुर में (कश्मीरी में-चकड़ार) बिज बिहाड़ा के पास उन्होंने वितस्ता के पानी को बहाव देने के लिए व्यवस्था की थी और इसे रहट के द्वारा अनेक गांवों में बांट दिया। परिहासपुर में उन्होंने परिहास केशव नाम की भगवान् विष्णु की एक शानदार मूर्ति प्रतिष्ठित कर दी और दूसरी विष्णु की मूर्ति को वह मुक्ता केशव के नाम से पुकारते थे जिस पर मोती लटकते थे। महावराह की दूसरी सोने की मूर्ति भी उन्होंने बनवाई थी। भगवान गोवर्धनधर (कृष्ण) की मूर्ति चांदी से बनवाई गई थी जो गायों के स्तनों से बहती हुई दूध की धारा के समान सफेद थी। उन्होंने उस पर कई हाथ भर ऊंचा गरुड़ के समेत एक बड़ा प्रस्तर स्तम्भ बनवाया। परिहासपुर या वर्तमान परसपुर के

बारे में श्री आर. सी. काक का कहना है :-"ललितादित्य तथा उसके मंत्रियों में नये शहरों,-आलीशान महलों को बनाने और सजाने के प्रयत्न में आपस में होड़ लगी हुई थी। प्रत्येक प्रासाद अपनी गरिमा और कला कौशल की गौरव-गाथा को प्रकट करता था।"

इससे यह स्पष्ट है कि यह कर्मवीर तथा युद्धवीर प्रासादों के निर्माण के विरुद्ध न थे बल्कि इनके बनाने में उन्होंने प्रत्येक प्रकार की उदारशीलता दिखाई। कश्मीर से बाहर जो सामग्री इकट्ठी करते थे वह अपने लिए खर्च नहीं करते थे बल्कि इस को जनता की भलाई के लिए प्रयोग करते थे। यही कारण है कि कल्हण ने इन्हें दूसरा कुबेर (धन का देवता) माना जिन्होंने हज़ारों की संख्या में मूर्तियां चांदी और सोने से बनवाईं। इनकी उदारता और प्रजावत्सलता को दृष्टि में रखकर उनकी रानी कमलावती और उनके मंत्रियों मित्रधर्मा और तुर्की के चिङ्कुण ने भी कस्बे आबाद किए और देवताओं की मूर्तियां बनवायीं। उन्होंने उन मन्दिरों और भवनों को बनवाने और मरम्मत करवाने की व्यवस्था भी की जो जीर्णशीर्ण अवस्था में थे।

कल्हण ने वैष्णवों और बौद्धों में किसी तनाव अथवा कलह का उल्लेख नहीं किया है। ये लोग कंधे से कंधा मिलाकर एक ही मां के सपूतों के समान आपस में घुलमिल कर नीर-क्षीर होकर रहते थे। वैष्णव राजाओं ने बौद्धों की सहायता और बौद्ध राजाओं ने विष्णुमत के अनुयायियों को प्रत्येक प्रकार की सुविधा प्रदान की। इस भाईचारे के वातावरण को स्थाई रखते हुए ललितादित्य जो स्वयं विष्णुमत के अनुयायी थे, ने अपने शासन में बौद्धों को यह अनुभव करने का अवसर न दिया कि वे असुरक्षित हैं। उन्होंने बौद्धों के सैंकड़ों स्तूप, मठ, विहार निर्मित कराये। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने बुद्ध की गगन चुम्बी विशाल मूर्ति को चौरासी हज़ार प्रस्थ कांसे से बनवाया था। इसके अतिरिक्त जीवन के विषय में इनके विशाल दृष्टिकोण ने तुर्की के चिंकुण को मंत्री बनाया। चिंकुण किस धर्म से सम्बन्ध रखता था। इसका ध्यान राजा ने कभी नहीं किया, बल्कि उसकी योग्यता को ही प्राथमिकता दी। मोटे और दरद जो शराब पीने के व्यसनी थे, उन्होंने उन्हें अधीन रखकर केवल अपने साम्राज्य के साथ उनकी सीमा को नहीं मिलाया बल्कि उन्हें माफी दी और सुधारने का भी प्रयत्न किया। अफगानशाहों और दूसरे शहज़ादों को भी ऊंचे पदों पर नियुक्त किया। इस तरह ललितादित्य ने अपने जीवनकाल में धर्म निरपेक्ष हो कर उसे साकार किया तथा संकीर्ण दृष्टिकोण को तिलाञ्जली दी थी। उनमें दूसरों के गुणों को परखने की सामर्थ दृष्टि थी। इन घटनाओं से पता चलता है कि उनमें ये गुण जाति धर्म भेदभाव के बिना कूट-कूट कर भरे हुए थे। यही कारण है कि आज तक इस प्रकार का भाई चारा कश्मीर की संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गया है।

सम्राट को संसार के कोने-कोने में पर्यटन की उत्कट इच्छा थी। इन विजयों को अर्थात् दिग्विजय को कार्यान्वयन देने के कौतुक ने इनको अपनी जान हथेली पर रखने के लिए विवश किया। कल्हण के अनुसार जब वह बालुकार्णव पर आक्रामक हुए वहां वह बाल-बाल बच गये, लेकिन भयानक स्थिति में भी वह पीछे न मुड़े। बालुकार्णव से अभिप्राय (Gobi Desert) यानी गोबी मरुस्थल है जो मध्य एशिया में स्थित है।

इतिहासकार कल्हण ललितादित्य के मृत्यु के बारे में स्वयं किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा है । वास्तव में उनका जीवन वीरता और निर्भयता का प्रतीक है। प्रत्येक कश्मीरी उनके श्रेष्ठ कृत्य पर गौरवान्वित है और उनके असाधारण गुणों से प्रेरित है। उनका महान चरित्र इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि कश्मीर के लोग पुराने जमाने में कायर न थे और अस्त्र-शस्त्र उठाने में कभी भी पीछे नहीं हटते थे। वे दुश्मनों से लोहा लेने में सक्षम थे। ललितादित्य से तात्पर्य सुख प्रदान करने वाला सूर्य है जो अपनी गर्मी से जाति वर्ण भेद के भिन्न सभी को जीवन प्रदान करता है। उनके साहसी पराक्रम, अतुल शक्ति तथा दृढ़ मनोबल ही प्रशंसा देशी तथा विदेशी इतिहासकार करते रहे हैं। निःसंदेह, उनका जीवन एक सुयोग्य शासक तथा अनुपम विजयी की एक जीती जागती प्रतिमा थी। जो कश्मीर के ऐतिहासिक स्वर्णिम पृष्ठों पर अक्षुण्ण रूप से अंकित है।

संदर्भ

1. एम. ए. स्टीन का अंग्रेजी अनुवाद-कल्हण राजतरंगिणी।
2. A Remusat's translation, nouveaux melanges, ariat IPP. 196.
3. Litineraired' ou-kong, Journal asiat. 1895, PP 354.
4. India, II P. 178.
5. Chavannes Levi, Journal asiat, 1895, P. 353.
6. Litineraired'ou-k'ong. Journal asiat. 1895. PP 350.
7. R. C. Kah : Anicient monuments of Kashmir, 1971. PP. 131.
8. बदरीनाथ कल्ला : ललितादित्य मुक्तापीड़ ।

(हमारा अदब-1976-77 उर्दू में) प्रकाशक : जम्मू व कश्मीर कल्चरल अकादेमी, श्रीनगर पृ. नं० 180-189।



भारतीय संस्कृति के मूल प्रतीकों के चितेरे ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय

○ मज़हर अहमद ख़ान

निबन्ध लेखन हिन्दी साहित्य की एक सशक्त और समृद्ध विधा है। प्राचीन युग में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को संवार-संजो कर सीने की प्रक्रिया को निबन्ध कहा जाता था। बाबू गुलाबराय के शब्दों में, "निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगीत और सभ्यता के साथ किया गया हो।" तत्कालिक निबन्धों की अपेक्षा आज के निबन्धों में स्वतन्त्र चिंतन, निर्विकार अनुभूतियां तथा लेखक के हृदय एवं मस्तिष्क का संगम देखने को मिलता है। आजकल दो प्रकार के निबन्ध मुख्यतः प्रचलित हैं :-

(1) सामयिक-जिनमें किसी विषय की सुसम्बद्ध विवेचना हो।

(2) आत्माभिव्यंजक या व्यक्तिपरक-जिनमें विषय का विस्तार व्यापक, बहुमुखी और रस प्रधान हो।

ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय अन्य निबन्धकारों-विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, शिवप्रसाद सिंह, विवेकीराय, केदारनाथ अग्रवाल, नेमिचन्द जैन आदि में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। वह ललित निबन्धों की निजता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ललित निबन्ध एक साथ और एक बिन्दु पर शास्त्र और काव्य दोनों हैं।

कुबेरनाथ राय अपना सम्पूर्ण जीवन राजनीति की दलदल से दूर, प्रचार-तंत्र से अलग-थलग तथा दलगत साहित्यकारों से अपना दामन झाड़ कर, उत्तर प्रदेश से आकर असम के एक कस्बे में मौन-साधक के रूप में चिंतन-मनन करने में तल्लीन रहे। वे किसी पुरस्कार, उपाधि अथवा सम्मान से बेखबर साधारण जीवन व्यतीत करते रहे। आज जहां प्रत्येक क्षेत्र में राजनीति प्रवेश कर गई है वहीं भारतीय ज्ञानपीठ ने स्वयं को इससे बचाए रखते हुए सन् 1993 में कुबेरनाथ राय की प्रसिद्ध कृति 'कामधेनु' को मूर्तिदेवी पुरस्कार के लिए चयनित कर प्रशंसनीय कार्य किया है। इसी प्रकार भारतीय ज्ञानपीठ ने सन् 1992 में नरेश मेहता को सम्मानित किया था। जिस प्रकार हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है किन्तु कुबेरनाथ राय उस प्रभाव से स्वतन्त्र,

अपनी मौलिक शैली में भारतीय संस्कृति के मूल प्रतीकों का सूक्ष्म विश्लेषण कर ललित निबन्धों की रचना कर रहे हैं। अब तक उनके जो निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं वह हैं-'प्रिया नीलकंठी रस आखेट, गन्धमादन, निषाद बांसुरी, विषाद योग, पर्णमुकुट, महाकवि की तर्जनी, पत्र मणिपुतल के नाम, किरात नदी में चन्द्र मधु, मनपावन की नौका, दृष्टि अभिसार, भेता का वृहत्साम, कामधेनु और मराल। 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेट', 'गन्धमादन' और 'विषाद योग' संग्रहों में सांस्कृतिक संदर्भों से प्रस्फुटित होते जीवन के नवीन आयामों एवं आधुनिक जीवन के विभिन्न रूपों के सजीव चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। उनके निबन्धों के विषय में भारतीय ज्ञानपीठ मूर्ति देवी पुरस्कार प्रशस्ति पत्र में कहा गया है कि उनकी रचना 'कामधेनु' में भारतीय संस्कृति के मूल प्रतीकों की ललित शैली में दार्शनिक, नृतात्विक और ऐतिहासिक दृष्टि से आनंदवर्धक व्याख्या है। इस संग्रह के सभी निबन्ध अपनी प्रबन्ध पटुता के कारण काव्य और शास्त्र का मणिकंचन संयोग प्रस्तुत करते हैं।

उनके लेखन में रोमानीपन स्थान-स्थान पर मिलता है। जिसके विषय में उनका कहना है कि आज की राजनीति ने प्रत्येक व्यक्ति की संवेदनाओं, भावनाओं, आर्द्रता एवं साहित्य को प्रभावित किया है। आज व्यक्ति, व्यक्ति की पीड़ा को नहीं अपितु उसके धर्म, सम्प्रदाय, जाति अथवा वर्ण को अधिक महत्व देता है। धर्म और सम्प्रदाय के बीच व्यक्ति सिमट कर रह गया है। मानवीय संवेदनाओं का कोई महत्व नहीं रहा। उनके नवीन निबन्ध संग्रह 'मराल' का प्रथम निबन्ध ही प्रेम पर आधारित है। वही 'निषाद बांसुरी' में उन्होंने कुछ भिन्न धरातल पर निबन्ध लिखे हैं जिनमें नृतत्वशास्त्र, भाषा विज्ञान, भूगोल आदि विषय समाहित हैं। इधर ललित निबन्धों में एक समर्थ व्यंग्य शैली का विकास भी हुआ है। जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों पर तीखा, पैना और अर्थगर्भित व्यंग्य उनके 'निषाद बांसुरी' और 'दृष्टि अभिसार' में उभर कर सामने आया है।

प्रेमचन्द, फणीश्वरनाथ रेणु की भांति कुबेरनाथ राय भी भारतीय गांव और परिवेश से जुड़े हुए हैं। समाज और व्यक्ति की पीड़ा, समस्या को महसूस किया है। यथार्थ के धरातल पर रह कर उन्होंने आम आदमी की पीड़ा को झेला है। खेत, खलिहान, पोखर, तालाब, पेड़-पीपल, ग्रामीण अंचल के साधारण लोगों का जीवन आदि सभी कुछ उनके साहित्य में देखने को मिलता है। आज जहां शहर, नगर, गांव, कस्बों में कैक्टस के घने जंगल उगते जा रहे हैं वहीं उनके निबन्ध भारतीय आस्था, विश्वास एवं आकांक्षा को संजोये वटवृक्ष के समान आनंद की अनुभूति कराते हैं। उनके निबन्धों में जहां सांस्कृतिक गवेषणा और लालित्य चेतना का अद्भुत संगम है, वहीं युगीन चेतना की अभिव्यक्ति, ग्रामीण जीवन का उल्लास, उमंग, दर्द और आशा

की स्त्रोतस्विनी प्रवाहित होती प्रतीत होती है। ऐसे चित्रण में लोक संस्कृति और लोक भाषा का स्वर-स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ है। असम की लोक भाषा के शब्दों का प्रयोग अभिव्यक्ति सौंदर्य के लिए किया है। इस संदर्भ में लेखक का मत है कि यदि अभिव्यक्ति सौंदर्य के लिए किया है। इस संदर्भ में लेखक का मत है कि यदि अभिव्यक्ति सौंदर्य के लिए अन्य भाषाओं के शब्दों की सहायता लेना पड़े तो संकोच नहीं करना चाहिए। यही उनके निबन्धों की सबसे बड़ी शक्ति है। उनकी भाषा में कथन का बांकपन, ओज-प्रवाह, प्रतीकात्मकता और लाक्षणिकता का सुन्दर संगम है। अपने लेखन के विषय में लेखक का कहना है कि मैंने क्या लिखा ? मेरे भीतर के अन्तर्यामी पुरुष ने लिखवाया। अन्यथा इस भोजपुरी देहाती से वह थोड़े ही लिखा जाता। लेकिन उन्हें एक बात आज भी व्यथित करती है कि जिस प्रकार पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी को आचार्य क्षितिमोहन जैसा गुरु मिला, वैसा गुरु उन्हें नहीं मिला, जो उनको मांज सकता, उन्हें निखार सकता, उन्हें गढ़ सकता, उन्हें परिष्कृत कर सकता। साहित्य की श्रेष्ठता, शाश्वता को उद्घाटित करने और घटित हो रहे वृत्तांत का चित्रांकन करने में है। शाश्वतता एवं यथार्थ बोध को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने पर ही श्रेष्ठ रचना उत्पन्न हो सकती है। कुबेरनाथ राय भी इसी प्रकार की लेखन प्रक्रिया से जुड़े हुए है। उनके ललित निबन्धों को पढ़ कर सहज ही आभास होता है जैसे कि हम किसी सभ्यता की खोजपरख यात्रा कर रहे हैं। उनके निबन्ध हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं।

भारतीय संस्कृति के चितेरे कुबेरनाथ राय का जन्म 26 मार्च, सन् 1933 को उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर ज़िले के मतसा गांव में एक किसान-परिवार में हुआ। उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने गांव के स्कूल में प्राप्त की तथा बनारस के क्वींस मेरी महाविद्यालय में बारहवीं की परीक्षा उत्तीर्ण कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। सन् 1959 से वह असम के नलबारी कॉलेज में अंग्रेजी का अध्यापन 27 वर्षों तक कराते रहे। आज वह असम से वापस अपने प्रदेश में आकर गाज़ीपुर के स्वामी सहजानंद कालेज में प्राचार्य के रूप में भी कार्यरत रहे। एक प्रतिष्ठित, प्रसिद्ध एवं सफल ललित निबन्धकार का जीवन आज भी अत्यन्त सरल और साधारण है। शहर की तड़क-भड़क से दूर वह आज भी अवकाश मिलने पर खेतीबाड़ी करते नज़र आते हैं। अपने जीवन के विषय में वह सहज भाव से कहते हैं कि मेरे जीवन में कुछ भी ऐसा उग्र, उत्तेजक, रोमांटिक, अद्भुत या विशिष्ट नहीं जो कहने लायक हो। पूर्वी उ. प्र. के एक अर्द्ध-अभावग्रस्त सवर्ण किसान परिवार के शिक्षित और उत्तरदायित्व चेतना सम्पन्न युवक की जो नियति होती है, जैसा जीवन होता है, वैसा ही हमारा जीवन भी

है। उनकी यही सहजता, सरलता और यथार्थपरक दृष्टिकोण उनके लेखन में भी प्रतिबिम्बित है।

निबन्ध लेखन के प्रति लेखक का रुझान बचपन से ही था। अंग्रेजी का विद्यार्थी होने के कारण उन्होंने सर्वप्रथम अंग्रेजी में निबन्ध लेखन प्रारम्भ किया किन्तु अपनी मातृभाषा का मोह उन्हें हिन्दी की ओर खींच लाया। सर्वप्रथम उन्होंने पूर्व केन्द्रीय शिक्षा मंत्री हुमायूं कबीर की अंग्रेजी में लिखी पुस्तक 'अवरहेरिटेज' पर एक निबन्ध 'इतिहास अथवा शुक सारिका कथा' शीर्षक से 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजा। तत्पश्चात् उन्होंने 'धर्मयुग' में अपना एक निबन्ध 'हेमन्त-संध्या' प्रकाशनार्थ भेजा। जिसे प्रकाशित कर डां. धर्मवीर भारती ने उन्हें आगे लिखने के प्रेरित किया, यह उनका प्रथम ललित निबन्ध था। द्विवेदी जी का 'अशोक के फूल' और बालमुकुन्द गुप्त का 'शिव शम्भू के चिट्ठे' निबन्ध संग्रहों ने उन्हें बेहद प्रभावित किया तथा उनकी भाषिक संस्कृति का आदर्श तुलसीदास द्वारा रचित ''रामचरितमानस'' रहा है। पिछले तीन दशकों से लेखक यद्यपि ललित निबन्ध साहित्य को समृद्ध करते चले आ रहे हैं तथापि हिन्दी साहित्य उनसे और अधिक आशा लगाये हुए हैं।



कश्मीरी नाट्य साहित्य : नवदृष्टि

○ डा० ज़ोहरा अफ़ज़ल

विद्वानों के मताबुसार कश्मीर में नाट्य साहित्य का कोई विशिष्ट इतिहास नहीं है जो नाट्य कलाकारों को प्रभावित करने यहां के थियेंटर को प्रोत्साहित अथवा यहां के थियेटर को प्रोत्साहित करने वाला हो। प्राय: कश्मीर में वर्ष में तीन बार नृत्य और नाटक के उत्सव होते थे। धार्मिक उत्सवों पर-इस दिन भगवान की विभिन्न लीलाओं का प्रदर्शन नृत्य और नाटक के रूप में किया जाता था, दूसरे सामाजिक उत्सवों के समय-जैसे शादी-ब्याह आदि के समय और तीसरे कृषि सम्बन्धी उत्सवों के समय। इन सभी अवसरों पर यहां नाट्य और नृत्य का आयोजन कलाकारों द्वारा किया जाता था और खूब धूम-धाम, चहल-पहल रहती थी। ये सब मिलकर एक समृद्ध लोक नाट्य परंपरा का निर्माण करते हैं। जिसके अन्तर्गत विशुद्ध नाट्य रूप भी विद्यमान है।

कल्हण के अनुसार यहां नाटक और नृत्य का प्रदर्शन मन्दिरों में किया जाता था। कश्मीरी नृत्यांगनाएं अपनी नृत्य कला और अभिनय के कारण सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध थीं। संस्कृत कवि बिल्हण के अनुसार इनकी नृत्य कला की तुलना रंभा, चित्र लेखा तथा उर्वशी जैसी अपसराओं के अनुरूप नृत्य शैली से हो सकती थी[1]! इस से सिद्ध होता है कि कश्मीर में नाटक और नृत्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यहां समय- समय पर बहुत से अभिनेता, नर्तकियां, निर्देशक एवं नाटककार हुए हैं, जिनकी प्रसिद्धि भारत भर में व्याप्त थी। स्थानीय नाटककारों ने कई सुन्दर नाटक लिखे जिनका मंचन कश्मीर से बाहर भी हुआ और वे प्रशंसित हुए। पं० पृथ्वीनाथ कौल बामज़ई नाटककार "चंडिका" को कश्मीर के प्रथम संस्कृत नाटककार मानते हैं। यह वही 'चंडिका' है जिसकी प्रशंसा में वल्लभदेव ने 'सुभाषितावली' में कुछ पद लिखे हैं। कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में एक और संस्कृत नाटक 'रामाभियुद्ध' का उल्लेख किया है। अत: स्पष्ट है कि कई नाटक कश्मीरी रंग मंच पर खेले गए और प्रसिद्ध हुए।

---

1. 'विक्रमादेव चरित्रम' भाग १८, श्लोक २३, २९

कश्मीरी ललित कलाओं को पनपने का अवसर राजा ललितादित्य के राज्य काल में मिला। इस समय कश्मीरी 'संगीतकारों' एवं नृत्यांगनाओं को अपनी कला को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन मिला । कहा जाता है कि महाराज ने यहां एक सुन्दर शिव मन्दिर की स्थापना की जहां प्रतिदिन संध्या-समय सुन्दर नृत्यागनाएं व नृत्य कला का प्रदर्शन किया करती थीं। दर्शकों में स्वयं राजा भी सम्मिलित होते थे।

कश्मीर में इस्लाम आने के लगभग डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् रंगमंच और नाट्य साहित्य को एक नई दिशा मिली। सुल्तान ज़ैनुलआबिदीन ने यहां के अभिनेता और अभिनेत्रियों को रंगमंच पर आने के लिए प्रोत्साहित किया। 'बड़शाह' स्वयं भी गीत संगीत के शौकीन थे। आपके दरबार में बहुत सी अभिनेत्रियां थीं, जिनमें तारा, रत्नमाल, दीपमाला और नृपमाल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके दरबार में संस्कृत एवं कश्मीरी भाषा के कई नाटककार उपस्थित थे, जिनमें बोधिभट्ट और सोम पंडित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बड़शाह के बाद सुल्तान हसन शाह तथा युसुफ शाह चक के राज्यकाल में भी नृत्य और नाटक के विकास के लिए सराहनीय कार्य किया गया किन्तु इसके बाद राजनैतिक उथल-पुथल के कारण ऐसी सभी गतिविधियां ठप्प हो गईं। इसके बावजूद कश्मीरी नृत्य और नाटक की कुछ प्राचीन शैलियों के अंश अभी भी सुरक्षित हैं, जैसे-'रोफ़', 'दंभाली', 'विगिनि वनवुन', सिद्धगर आदि।

'रोफ़' कश्मीरी लोक नृत्य का एक बहु प्रचलित रूप है। इसको सामूहिक गान भी कहते हैं। यह नृत्य मुसलमान स्त्रियां विवाह या ईद के अवसर पर करती हैं।

'दंभाली' का शाब्दिक अर्थ हैं उछल-कूद। यह नृत्य प्रणाली यहां के एक वर्ग विशेष तक ही सीमित है जो दंभाली फकीर के नाम से प्रसिद्ध है। 'विगिनि वनवुन' भी कश्मीरी लोक नृत्य का एक प्रचलित रूप है। इस नृत्य का प्रचलन कश्मीरी हिन्दुओं में है। विवाहोत्सव पर जब दूल्हा बरात लेकर ससुराल जाता है, तब घर में रहने वाली महिलाएं खूब नाचती हैं। इसी प्रकार 'सिद्धगर' भी विवाह के अवसर पर ही किया जाने वाला नृत्य है। यह नृत्य उस समय होता है जब दूल्हा-दुल्हन वापस घर आते हैं तब कोई पुरुष स्त्री वेषभूषा में खुशी से नाचता हुआ दूल्हा-दुल्हन के सुखी जीवन की कामना करता है।

१९वीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत में कुछ ऐसी नाटक मण्डलियों की स्थापना हुई जो गांव-गांव जाकर नाटक खेलने का आयोजन करती थीं। जिनमें से कश्मीर को भाण्डपाथर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कश्मीर में भाण्डपाथर का जन्म उस

समय हुआ जब परिस्थितिवश यहां का नाट्य साहित्य का ह्रास हो चला था। उस समय कुछ नाट्य कलाकारों ने यहां के रंगमंच की परम्परा को बचाने के लिए बहुत प्रयास किया और कश्मीरी नाटक परिवार को सुरक्षित रखा। धीरे-धीरे भाण्डों ने अपना लिया। मुगलों के शासन काल में यहां के भाण्ड कलाकारों को काफी प्रोत्साहन मिला। कश्मीर में भाण्डपाथर खेलने की प्रथा १९वीं शती तक रही किन्तु बाद में इन कलाकारों की पीढ़ियों ने इसमें कोई रुचि नहीं दिखाई। परिणामस्वरूप इसके देखने वालों की संख्या की कमी होती गयी। २०वीं शती के प्रारम्भ में पारसी थियेटर कम्पनियों ने पूरे भारत में धूम मचा दी। इस कम्पनी के नाट्य कलाकारों ने कई उर्दू नाटक भी मंचित किये जन साधारण में बहुत लोकप्रिय हुए। उन नाटककारों में विशेष उल्लेखनीय हैं-आग़ाहश्र कश्मीरी, बेताब तथा रहमत साहब किन्तु इन नाटककारों को उपेक्षा ही मिली। केवल एक स्मृति की छाप मात्र रह गयी थी अब इसी नाटक एवं रंगमंच के विकास में इनका महत्व स्वीकारा किया जा रहा है। उसी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण कर कश्मीर के तत्कालीन नाटककारों ने एक साहसपूर्ण कदम उठाया और रंगमंच के विकास के लिए फिर से तत्पर हुए। साहसपूर्ण कदम कहना इस कारण उचित होगा क्योंकि उस समय समाज की ऐसी मनोवृत्ति थी कि यदि कोई नाट्य कलाकार रंगमंच पर अभिनय करता था तो उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। परन्तु ये नाटककार इसकी चिन्ता न करते हुए अपने उद्देश्य की पूर्ति में जुट गये। इन्होंने श्रीनगर में 'गांव कदल' के समीप एक नाटक कम्पनी खोली। नाट्य-कलाकार वेदलालधर इसके संचालक थे। उस समय के प्रसिद्ध उर्दू से अनभिज्ञ होने के कारण आम जनता ने इस ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई। इस नाटक कम्पनी ने हमें रामकृष्ण, अमर नाथ हाण्डा, प्रेमनाथ जालू, कृष्णदास जगन्ननाथ 'साकी' इत्यादि जैसे महान कलाकार प्रदान किये। ये सभी कलाकार मन से चाहते थे कि वे उर्दू की बजाय कश्मीरी नाटक लिखकर लोगों का मनोरंजन करें किन्तु उस समय कश्मीरी में नाटक लिखने का साहस जुटा पाना कठिन था। १९२९ ई० में पं० नन्द लाल 'कौल' ने 'सत्च काहवट' (सत्य की कसौटी) नामक नाटक लिखकर कश्मीरी नाट्य साहित्य के क्षेत्र में धूम मचा दी। 'कौल' साहब ने इस नाटक में राजा हरिश्चन्द्र तथा उनकी पत्नी तारामती के जीवन संघर्ष को अपने नाटक का विषय बनाया। कौल साहब के इस प्रयास से कश्मीरी नाट्य साहित्य का वह शून्य समाप्त हो गया। इसके बाद तो कश्मीरी नाटककारों की एक बाढ़ सी आ गई। इन सभी नाटककारों ने अपने नाटकों के विषय या तो इतिहास से ही ग्रहण किये या ये संस्कृत नाटकों के कश्मीरी रूपान्तर थे। १९३९ ई० में प्रो० मुहीउद्दीन

'हाजनी' ने 'ग्रीस सुन्द गर' नामक नाटक की रचना करके कश्मीरी नाट्य साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की।

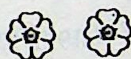
सन् १९४१ ई० से सन् १९४७ ई० तक का समय कश्मीरी नाट्य साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण था। यहां के लेखकों एवं कलाकारों ने देश प्रेम से ओत-प्रोत रचनाएं लिख कर जनसाधारण के मन में देश प्रेम की भावना को जगाने का प्रयास किया। सन् १९४५ ई० में प्रेम नाथ 'परदेसी' जी ने 'बतहर' नामक नाटक की रचना की और इसको अभिनीत भी किया। देश प्रेम की भावना से ओत-प्रोत पहला कश्मीरी नाटक 'शहीद शेरवानी' परदेसी जी ने लिखा किन्तु इसका मंचन नहीं हो सका।

सन् १९४७ के बाद से यहां की जनता की रुचि कश्मीरी नाटकों में बढ़ने लगी और इसके दर्शक श्रीनगर तक ही सीमित न रह कर गांवों में भी होने लगे। इस समय के 'तीन बटा चार' और 'डालर साहब' नामक नाटकों को बहुत प्रसिद्धि मिली। इन नाटकों का विषय था जीवन और कृषकों के अधिकार। लेखक का उद्देश्य था कि कृषक वर्ग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो और उपज का तीन चौथाई भाग उसको मिलना चाहिए और एक चौथाई जमींदार को। इन दोनों नाटकों का सफलता पूर्वक मंचन किया गया। इन कलाकारों में सोमनाथ 'जुत्शी' नूर मुहम्मद 'रोशन' पुष्कर नाथ 'भाण' एवं प्राण किशोर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त ग्रामीण लोगों में जिन नाटकों को बहुत अधिक सराहा गया वे हैं-'अमीन कामिल' का 'पगह छु गाशदार' अली मुहम्मद लोन' का 'विज़छसानि', पुष्कर भान का 'तन त तड़ाख' और नूर मुहम्मद 'रोशन' का 'सोन समाचार' जिनका विशिष्ट स्थान है।

सन् १९४७ से सन् १९५० ई० तक का समय कश्मीरी रंगमंच तथा नाट्य साहित्य के विवरण के लिए अभूतपूर्व था। यह वह समय था जब यहां पहली बार छाया नाटक दिखाने का सफल प्रयास किया गया। १९५० के बाद कश्मीरी रंगमंच की ओर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया गया किन्तु १९५३ में यहां के कलाकारों को फिर से इस ओर प्रोत्साहित किया गया। यही वह समय था जब गीति नाट्य लिखने की ओर लोगों का ध्यान गया। सबसे पहला गीति नाट्य दीना नाथ 'नादिय' ने 'बोम्बुर त यम्बरज़ल' नाम से लिखा। जिस समय इस गीति नाट्य को पहली बार रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया तो भीड़ की भीड़ इस नाटक को देखने के लिए उमड़ पड़ी। इसी गीति नाट्य के पश्चात् गीति नाट्य लेखन की एक होड़ सी लग गई और अनेक कवि इस मैदान में कूद पड़े। इनमें 'रहमान राही' अमीन 'कामिल', गुलाम रसूल 'सन्तोष' पृथ्वी कौल 'साइल' तथा मोती लाल केमू के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'बोम्बुर त यम्बरज़ल' के बाद यहां बहुत से नाटकों की रचना हुई। उनमें 'नेकी त बदी', 'हब्बा ख़ातून', 'नसीतहुंद सवाल', 'ज़ून', 'हीमाल', 'बीर बलन नव्य' आदि ने अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त की।

आज कश्मीरी रंगमंच उस स्थिति में नहीं, जो सन् १९४७ में थी। १९४७ के रंगमंच और आज के रंगमंच की स्थिति में बहुत अन्तर है किन्तु इतना होने पर भी कश्मीरी नाट्य-साहित्य का विकास उतनी तेजी के साथ नहीं हो पाया है जितना भारत की कुछ अन्य भाषाओं में हुआ है। कश्मीरी रंगमंच की प्रगति तथा नाट्य साहित्य का उत्तरोत्तर विकास तभी सम्भव है जब यहां के रंगमंचीय कलाकार तथा कश्मीरी नाटककारों के प्रयासों को सभी ओर से सुनियोजित रूप से प्रोत्साहित किया जाए।



कथा-पर्याय कथाकार मेहरुन्निसा परवेज़

○ *श्रीमती ज़ाहिदा जबीन*

मेहरुन्निसा परवेज़ हिन्दी जगत के साठोत्तरी कहानी साहित्य की अग्रणी लेखिकाओं में से हैं। इन्होंने साहित्य की कई विधाओं पर लेखनी चलाई, जैसे लेख, डायरी, संस्मरण, यात्रायें, आत्मकथा, निबन्ध, कविता आदि में आपने नियमित लेखन-कार्य किया है। किन्तु ये सब फुटकल रूप में ही पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं, पर कथा-साहित्य में इनका योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'आंखों की देहलीज़' (1969), 'उसका घर' (1972), 'कोरजा' (1977), 'अकेला पलाश' (1981)।

कहानी संग्रह–'आदम और हव्वा' (1972), 'टहनियों पर धूप' (1977), 'ग़लत पुरुष' (1977), 'फाल्गुनी' (1978), 'अंतिम चढ़ाई' (1982), 'कोई नहीं' (1992), 'एक और सैलाब' (1990), 'सोने का बेसर' (1991), 'अयोध्या से वापसी' (1991), 'कानी-बाट' (1992), 'ढहता कुतुबमीनार' (1993), 'निर्णय', 'रिश्ते' (1993) आपकी महत्वपूर्ण कथा कृतियां हैं।

आपने बांछड़ा जाति की लड़कियों (जिन्हें परम्परानुसार धंधे पर बिठाया जाता है) पर आधारित एक पुस्तक भी लिखी है। जिसका शीर्षक है :-

"म्हारी गोरी सी हथेली में,
छाला पड़ गयो मारुजी।"

बस्तर जिले के आदिवासियों की समस्याओं शोषित जातियों एवं सामान्य सामाजिक समस्याओं पर किया इनका लेखन उल्लेखनीय है।

पुरुष पर आश्रित नारी की पीड़ा को और उसके जीवन पर लगे बन्धनों की जकड़ को आपकी कई कहानियों में देखा जा सकता है। 'अपने होने का एहसास' ऐसी नारी की कथा है, जिसे कभी किसी भी रूप में जीवन में सम्मान न मिला। बेटी, बहू, पत्नी हर रूप में वह सम्मान और अपनेपन के लिए छटपटाती रही। जीवन में उसे कभी न लगा कि वह भी किसी के लिए आवश्यक है।

'सलाखों में फंसा आकाश' की नायिका अनचाहे बोझ की तरह माता-पिता की उपेक्षा में पली और शादी के बाद ससुराल में भी पति तथा सास के अन्याय का सामना करती है। नारी का जन्म लेना ही समाज को खटकता है। पुरुष का जीवन स्वतन्त्र है और हर नियम, हर बन्धन केवल नारी पर लागू होते हैं। पुरुष अपने जीवन के ऐश्वर्य और परकीया विलास में डूबा रहता है और पीछे रहती है उसकी पहली पत्नी, जो उसके परिवार के भविष्य और जीविका के लिए चिन्तित रहती है। इस का उदाहरण 'चमड़े का खोल' नामक कहानी में मिलता है। 'खाली आंखों की पीड़ा' में नायिका माता-पिता और पति से अलग-अलग ढंग से पीड़ित और ऊबी हुई है।

नारी पुरुष के बिना रह भी नहीं सकती। पति या प्रेमी की मृत्यु के उपरान्त उसका जीवन कैसा वीरान, नीरस और अतृप्त-सा हो जाता है और कैसे उसे अकेलापन काटता है, इसका चित्रण 'वीराने', 'छोटे मन की कच्ची धूप', 'बन्द कमरों की सिसकियां' नामक कहानियों में हुआ है।

'जाने कब' की नायिका केवल इसलिए पीड़ित है क्योंकि अशिक्षित होने के कारण उसका विवाह नहीं हो पाता है। आज की नारी में एक परिवर्तन दिखाई देता है कि वह पुरुष और समाज के अत्याचारों को अपना भाग्य समझ कर नहीं सहती, बल्कि उन अत्याचारों के विरुद्ध स्वर ऊंचा करती है। मेहरुन्निसा परवेज़ ने समाज के कठोर प्रहार से लड़ने वाली नारियों का चित्रण किया है। आज की नारी जानती है कि यह समाज, नैतिकता, संस्कृति, कानून सब उस पर लगाए गए बन्धन हैं। वह दुखी जीवन से समझौता न करके अपना अस्तित्व बनाह रखने के लिए संघर्ष करती है। इसी प्रकार 'अयोध्या से वापसी' की नायिका को मायके और ससुराल दोनों जगहों से अपमान और समाज को चोट करती और शंका भरी नज़रों का सामना करना पड़ता है। वह दोनों जगहों का त्याग कर अपना स्वतन्त्र जीवन जीती है। आज की नारी अपने स्वाभिमान को बनाए रखने के लिए आघात भी सहती है। वह पुरुष की हर चोट का दृढ़ होकर सामना करती है और स्वयं को आत्मनिर्भर बना कर सम्मान से जीवन व्यतीत करना जानती है। इसका उदाहरण 'अंतिम-चढ़ाई', 'गुरुमान', 'रेगिस्तान' आदि कहानियों में मिलता है।

यदि पुरुष ऊंची पदवी पाकर दूसरे का सहारा बन सकता है तो नारी क्यों नहीं ? इसी बात को मेहरुन्निसा ने 'क्यों नहीं' कहानी में दर्शाया है। 'क्यों नहीं' अपने-आप में एक प्रश्न होने के साथ-साथ एक सुझाव भी है। इनमें नारी को स्वावलंबी बनने का सुझाव दिया है और नारी को छोटी-छोटी विपत्तियों से टकराने का साहस देना चाह है। जैसे 'ओढ़ना' की नायिका को माता-पिता बांछड़ा जाति की परम्परानुसार

धंधे पर बैठाते हैं। किन्तु वह सारे बन्धन तोड़ कर उस गंदगी से भाग कर अपने प्रेमी के पास अपने उज्जवल भविष्य की खोज में जाती है।

लेखिका ने नारी को केवल कोमल, पवित्र, स्वाभिमानी, दृढ़, पूजनीय और असहाय रूप में ही न दिखा कर उसका कठोर और दृढ़ रूप भी दिखाया है। नारी कभी-कभी चण्डी का रूप भी धारण कर सकती है। 'सिर्फ एक आदमी' कहानी में बेटी अपने पिता के बन्धन और शासन से मुक्त होने के लिए उसी मृत्यु की कामना और प्रतीक्षा करती है।

अविवाहित कामकाजी महिलाओं के जीवन का करुण चित्र भी इनकी कहानियों में मिलता है। 'विद्रोह' की नायिका विवश होकर घर से बाहर जा कर नौकरी करके अपने पिता की गृहस्थी चलाती है। वह चाह कर भी विवाह नहीं कर पाती। 'अकेला गुलमोहर' में भाई अपनी बहन की शादी केवल इसलिए नहीं करना चाहता क्योंकि बहन कमाऊ है और वह हर माह भाई को दो सौ रुपए देती है, जो उसकी शादी के बाद मिलना बन्द हो सकते हैं।

आर्थिक अभाव से पीड़ित विधवाओं और असहाय ग्रामीण महिलाओं का चित्रण 'सीढ़ियों का ठेका' और 'त्यौहार' कहानियों में मिलता है। 'ओढ़ना', 'देहरी की ख़ातिर' और 'शिनाख्त' उन नारियों का चित्रण करने वाली कहानियां हैं जो अपना शरीर बेच कर अपना जीवन चलाती हैं।

पति-पत्नी की आपसी ऊब, खीझ, तनाव का चित्रण 'बंजर दोपहर' और 'अपने-अपने दायरे' कहानियों में हुआ है। 'बंटवारे की फांस' में देश विभाजन के बंटवारे से हुए खून-खराबा, विनाश को दिखाते हुए लेखिका ने एक नारी के जीवन की कथा का बिवरण दिया है, जिसका जीवन भी दो देशों में बट गया।' 'उसका घर' मे एक वृद्ध गृहस्वामी अपने ही घर में उपेक्षित और फालतू जीवन व्यतीत करता है। 'जमाना बदल गया है' में आपने दो पीढ़ियों में अन्तर दिखाते हुए पुरानी पीढ़ी को नई पीढ़ी की तुलना में उचित ठहराया है।

आपने अधिकांश कहानियों की रचना वर्णनात्मक शैली में की है। 'भोगे हुए दिन' कहानी में आत्मकथा पद्धति का प्रयोग हुआ है।

इनकी कहानियों में कई तरह के पात्र देखने को मिलते हैं। जैसे कुछ नायिकाएं अपने जीवन की समस्याओं और दुर्घटनाओं से हार कर, टूट कर बिखर जाती हैं। कुछ अपने जीवन की समस्याओं से समझौता करने के लिए विवश हैं। वे चाह कर भी मुक्त नहीं हो पातीं। विद्रोह नहीं कर पातीं। जैसे 'बूंद का हक', 'अपने होने का एहसास', 'विद्रोह' कहानियों की नायिकाएं। कुछ नायिकाएं स्वतन्त्र एवं स्वाभिमानी है, जो अपनी समस्यायें समझ कर उनका समाधान ढूंढती हैं। वह अधूरा और

अपमानित जीवन नहीं जी सकतीं। वह अपने अधिकारों के लिए लड़ना जानती है और अपनी शक्ति से परिचित हैं। 'अन्तिम चढ़ाई', 'अयोध्या से वापसी', 'रेगिस्तान' कहानियों की नायिकायें इसी यथार्थ का चित्रण हैं।

लेखिका के पांव किसी न किसी संवेदना या अनुभूति, बाहरी दबाव, भीतरी दबाव से ग्रस्त हैं। जैसे 'बंजर दोपहर' की सपना और 'विद्रोह' की नायिका। 'सलाखों में फंसा आकाश' की नायिका।

इनकी रचनाओं में आधुनिक परिवेश, ग्रामीण एवं कस्बाई परिवेश का चित्रण भी मिलता है, इन्होंने गांव में मनाए जाने वाले तीज-त्योहारों, मेलों का उल्लेख भी किया है। लोकगीतों का उल्लेख भी मिलता है।

"आहा मोरे लो सोई, डांगे मारे काच गोई।
मुई तोते खोज, अहीं आकुल होई॥
मोरे मात कोटनीन।
मुंडे बासी पेज बोही॥" .1.

पात्रों के संवादों से पात्रों की शिक्षा, सभ्यता, वर्ग का ज्ञान हो जाता है। आवश्यकतानुसार लघु, दीर्घ, भावपूर्ण, तर्कपूर्ण, सरस, सारगर्भित, शिथिल, सोद्देश्य या संवादों के लिए रचे गए संवादों का प्रयोग किया है। अलंकृत, व्यावहारिक, औपचारिक आदि हर तरह के संवादों का प्रयोग किया है।

मानवीकरण, प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, चित्रात्मकता, गंभीर चिंतन प्रधान भाव, प्रकृति-चित्रण, बिम्बात्मकता, आदि मेहरुन्निसा जी के साहित्य की अन्य विशेषताएं हैं। जैसे 'छोटी नगरनार के बाशाभोग छोटे चावल की तरह सुन्दर और महकने वाली।'[2]

इसके अतिरिक्त इन्होंने नए ढंग से उपमाओं का प्रयोग किया है। जैसे, 'आंखें रेगिस्तान-सी सूख गई।'[3], 'जिराफ सी गर्दन'[4]

अपने विभिन्न शैलियों को अपनाया है, जिनमें डायरी, आत्मकथा, फ्लैश-बैक, प्रश्न शैली, गम्भीर चिन्तन शैली, एवं वर्णनात्मक शैली प्रमुख हैं।

---

1. परवेज़, मेहरुन्निसा-'ग़लत पुरुष' संग्रह में संकलित कहानी, 'जंगली हिरनी' में से पृ. 99.
2. मेहरुन्निसा परवेज़-के 'ग़लत पुरुष' संग्रह में संकलित कहानी 'टोना' में पृ० 7 वाणी प्र०, दिल्ली 1977.
3. वही-'अयोध्या से वापसी' संग्रह में संकलित कहानी 'रेगिस्तान' से पृ. 104. पंचशील प्र०, जयपुर, 1991
4. वही-'सोने का बेसर' संग्रह में संकलित कहानी, 'विद्रोह' से पृष्ठ 171. (सत्साहित्य प्र०, दिल्ली 1991)

चित्रात्मक भाषा, की दृष्टि से उर्दू-अरबी-फारसी, मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमाओं, जीवन सम्बन्धित सूक्ति वाक्यों के प्रयोग से इनकी कहानियां विशिष्ट हैं। श्रीमति मेहरुन्निसा नारी की पक्षधर तो हैं किन्तु उन्होंने नारी के विद्रोह विषय को भी प्रस्तुत किया है ।

ये कहानियां देश, काल वर्ग भी सीमाओं से परे हैं। ये अपनी बात को पाठकों तक पहुंचाने में आप अपनी कहानियों को सोद्देश्य बनाने में सफल हुई हैं।

परिवेश का चित्रण करने, मुस्लिम महिला वर्ग की समस्याओं को उभारने, कहानी लिखने के ढंग आदि की दृष्टि से मेहरुन्निसा अन्य लेखिकाओं से भिन्न है, नारी की छोटी-बड़ी समस्याओं, भावनाओं का चित्रण, समाज में पलने वाली बुराइयों, छल, कपट, विश्वासघात, निर्धनता, आदिवासियों की समस्याओं का चित्रण लेखिका की कहानियों में मुख्य विषय है। जिनके चित्रण से उन्होंने कथा जगत में अपनी एक अलग पहचान बना ली है ।



प्राचीन बंगाल के बौद्ध विहारों में नियम और शिक्षा व्यवस्था

○ षष्टीपद चक्रवर्ती

बौद्धयुग में शिक्षा भिन्न प्रकार की होती हुई भी भारतीय एकता का प्रतीक बौद्ध विहार केन्द्रिय शिक्षा व्यवस्था के साथ भी शिक्षा ग्रहण करने के माध्यम बने हुए थे। प्राचीन बंगाल में शिक्षा के अनेक विषय जानने को मिलते हैं। उस समय की शिक्षा व्यवस्था का भार बौद्ध भिक्षुओं के ऊपर ही था। भिक्षु निर्बाध रूप से शिक्षा दे सकें इसके लिए बंगाल के विभिन्न स्थान में नालन्दा की तरह अन्य विहारों का निर्माण किया गया। इन सभी विहारों में असंख्य भिक्षु दूसरे प्रान्तों से आकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

नागार्जुन कोण्डालिपि के द्वारा ज्ञात होता है कि अति प्राचीनकाल में ही बंगाल में बौद्ध विहारों का निर्माण हो चुका था। बंगाल थेरवादी परम्परा के भिक्षुओं का केन्द्र था। ये सम्भवत: तीसरी और चौथी ई० पू० के रहे होंगे। इसके पहले भी इस देश में मौर्ययुग में उत्तर बंगाल प्राचीन पुण्डवर्द्धन नाम से विख्यात क्षेत्र में भी बौद्ध विहार थे यह महास्थान गढ़लिपि के द्वारा जाना जाता है। बाढ़ और अग्नि आदि से खाद्यान्न की क्षति होने पर विहारों में एकत्रित खाद्य सामग्री आम आदमी को दी जाती थी। पूर्व बंगाल में जो आज बंगला देश के रूप में जाना जाता है वहां पर अनेक विहार थे। इसका ज्ञान हमें गुनाइधरलिपि से मालूम होता है। वन्यगुप्त ने 508 गुप्तार्द्ध में आचार्य शान्तिदेव के द्वारा निर्मित महायान सम्प्रदाय बौद्ध विहार के लिए भूमिदान दी थी।

चीन देश से जो सब भ्रमणकारी भारतवर्ष में आये थे उन लोगों के यात्रा वृत्तान्तों से जानकारी मिलती है कि कार्जङ्गल, समतट, पाण्डुवर्द्धन और तार्वलिप्ति (वर्तमान में तमलुक) में बहुत सारे बौद्ध विहार और विद्यालय थे। इतिहासकारों ने कार्जङ्गल को वर्तमान में राजमहल, पाण्डुवर्धन को वगुड़ा जिला या उसके नजदीक कोई स्थान, तमतट विहार को त्रिपुरा या नोआखाली ज़िला, कर्णसुवर्ण को मुर्शिदाबाद जिला और ताम्रलिप्ति को मेदिनीपुर जिला के रूप में बताया है।

युवाङ च्वाङ्‌ (630-640) ईस्वी ने बंगाल में आकर कार्जङ्गल में छ-सात बौद्ध विहार और तीन सौ भिक्षुओं को रहते हुए देखा था, उन्होंने पाण्डुवर्धन में करीव बीस

बौद्ध विहार देखे थे जिनमें हीनयान और महायान सम्प्रदाय के लगभग तीन हजार भिक्षु रहते थे। युवाङ्च्वाङ ने राजधानी पुण्डवर्धन के समीप बौद्ध विद्या निकेतन का भी उल्लेख किया है, जिसमें एक बहुत बड़ा सभा कक्ष और दो मंजिला भवन था। वहां पर सात सौ महायान भिक्षुओं का निवास स्थान भी था। पूर्व भारत के अनेक भिक्षु यहां आकर बौद्ध विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन करते थे। इस बौद्ध विद्या निकेतन का नाम भासुविहार था। कर्णसुवर्ण में भी बौद्धों का बहुत प्रभाव था। यहां तीन विहारां में देवदत्त सम्प्रदाय के भिक्षु थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार दुग्धपान निषेध था। यहां भी राजधानी के समीप 'रक्तवीति' या 'रक्तमृत्तिका' नाम का एक बौद्धविद्या निकेतन था। जिस में बहुत दूर-दूर से प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु आकर रहते थे। चीन देश के भिक्षुओं के लिए श्रीगुप्त ने एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया था जिस का उल्लेख इत्सिङ् के 56 बौद्ध भिक्षुओं से सम्बन्धित ग्रन्थ में है। इस विहार का डा. वीरेन्द्र चन्द्र गांगुली ने इस विहार के स्थान का मुर्शिदावाद जिला में उल्लेख किया है।

चीनी भ्रमणकारियों के अनुसार समतट में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक था। युवाङ च्वाङ् ने वहां पर तीस बौद्ध विहार और वेरवादी सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को रहते हुए देखा था। सेङ्चुइ ने अपनी विवरणी में लिखा है कि समतट के बौद्ध राजा ''राजभट्ट'' एक महान धार्मिक और त्रिरत्न के उपासक थे।

उपरोक्त चीनी यात्री के यात्रा वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि इन सब स्थानों में से ताम्रलिप्ति ही संस्कृत भाषा और बौद्ध धर्म दर्शन के अध्ययन के लिए सबसे उत्तम स्थान था। तत्कालीन भौगौलिक पथ निर्देश से ज्ञात होता है कि चीन से आने के लिए समुद्र पथ से ही भारतवर्ष में आना होता था और सर्वप्रथम तान्रलिप्ति में ही उतरना होता था और यहीं से जहाज में चढ़ना होता था। इसका ज्ञान हमें हुई-लेन के मार्ग निर्देश से होता है। फाहियान ने दो वर्षों तक ताम्रलिप्ति में रहकर सूत्रग्रन्थों का अध्ययन किया था और बुद्धमूर्ति का चित्रण किया था। उनके समय में यहां पर लगभग 22 बौद्ध विहार थे और सभी विहारों में बौद्ध भिक्षु रहते थे। युवाङ् च्वाङ् ने दस विहार और एक हजार भिक्षु देखे थे। यहां पर टाङ् नाग के एक महायानी बौद्ध भिक्षु ने बारह वर्ष तक निवास कर संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। भिक्षु शीलप्रभा ताम्रलिप्ति में तीन साल तक संस्कृत भाषा सीखने के लिए रहे थे। हुई-लेन यहां एक वर्ष तक संस्कृत भाषा सीखने के लिए रहे। युयां-चुयां का एक विद्यार्थी यहां बारह वर्ष तक रहा और संस्कृत भाषा का बहुत बड़ा विद्वान बना। इत्सिङ ने अपनी यात्रा विवरणी में भारा विहार की शिक्षा व्यवस्था और अनुशासन के विषय में

लिखा है। उन्होंने अपने विवरण में यह भी उद्धृत किया कि उस समय ताम्रलिप्ति में पांच बौद्ध विहार थे।

पाल राजाओं के समय में बंगाल में अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ। जिनमें धर्मपाल का सर्वाधिक योगदान रहा। उनके द्वारा निर्मित मुख्य विहारों में से मगध में विक्रमशीला, वरेन्द्र सोमपुर, बंगाल में विक्रमपुरी विहार हैं। पहाड़पुर के ग्वाल विहार प्रमुख हैं। सत्यपीर टीले के पुरातात्विक उत्खनन से यहां एक बहुत बड़े बौद्ध विहार की जानकारी मिली है। इस विहार में भिक्षुओं के निवास के लिए छोटे-मोटे 200 कमरे निकले हैं और प्रत्येक कमरे में मूर्ति रखने की भी व्यवस्था थी। पुरातात्विकों का अनुमान है कि इस विहार में लगभग एक हजार भिक्षु रहते थे और विहार के समीप सत्यपीर टीले में एक बौद्ध तारादेवी का बड़ा मन्दिर भी प्रकाश में आया है। उत्खनन से धर्मपाल के द्वारा निर्मित सोमपुर विहार के भिक्षु संघों के नामांकित कुछ शिलापट्ट भी मिले हैं जिनमें वीयेयन्द्र भद्र नाम के समतट निवासी भिक्षु ने सोमपुर विहार को एक बुद्धमूर्ति दान में दी थी। सम्भवतः वीयेयन्द्र भद्र का काल दशमी शताब्दी रहा होगा ऐसा प्रतीत होता है। नवमी से ग्यारवीं शताब्दी तक इस विहार को देश-विदेश में बहुत अच्छा माना जाता था। तिब्बती इतिहास से ज्ञात होता है कि आचार्य बोधिभद्र इस विहार में रहते थे। आचार्य दीपंकर श्री ज्ञान अतीत ने इस विहार में कुछ दिन रह कर इस विहार के दूसरे आचार्यों के सहयोग से आचार्य भावविवेक द्वारा लिखित ''माध्यमिकरत्न प्रदीप'' का अनुवाद किया था।

तिब्बती शास्त्र (तनायुर) के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि विक्रमपुरी विहार बंगाल में था। आचार्य कुमारचन्द्र ने इस विहार में रहते हुए एक तन्त्र ग्रन्थ लिखा था और इन्द्रभूति की पुत्री लीला वज्र और तिब्बती श्रवण पुण्यध्वज ने मिलकर उस तान्त्रिक ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। चीनी इतिहासकार प्राग-साम-जन्-जां ने लिखा है कि त्रैकुटक विहार बंगाल में था। इस विहार में आचार्य हरिभद्र ने राजा धर्मपाल के अनुरोध पर अष्टसहिस्रिका प्रज्ञापरिमिता की आचार्य नागर्जुन और मैत्रेयनाथ के सिद्धान्तों के आधार पर एक टीका लिखी थी वह टीका आज भी संस्कृत में उपलब्ध है और अष्ट सहस्रिका प्रज्ञापरिमिता पर सबसे अच्छी टीका मानी जाती है।

विक्रमशिला विहार के मगध में स्थित होने पर भी यहां उनके आचार्य और भिक्षु बंगाल से आकर रहते थे। आचार्य जेतारि ने (940-980) ईस्वी में विक्रमशिला विहार से राज पण्डित की उपाधि प्राप्त की थी। विक्रमशिला विहार में अध्यापक के रूप में रत्नकीर्ति, रत्तवज्र, ज्ञानेश्रीमित्र, रत्नाकार शान्ति, यामारी आदि आचार्यों की गणना ख्यातिलब्ध विद्वानों में होती थी। राजा रामपाल ने जगदल विहार निर्माण करा

के उसमें अवलोकितेश्वर् और तारामूर्ति की स्थापना की थी। उक्त विहार गंगा और करतोया नदी के संगम पर स्थित रामावती नगर में निर्मित था ऐसा इतिहासकारों का मत है। आचार्य विभूति चन्द्र, दानशील, मोक्षकरगुप्त, सुभाकरगुप्त, धर्माकरगुप्त आदि प्रसिद्ध आचार्य इस विहार में रहते थे। तिब्बती विद्वान इस विहार में आकर इन आचार्यों की सहायता से संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद करते थे।

चीनी यात्री प्राग-सम-जन-जां ने अपने यात्रा वृत्तान्त में लिखा है कि चटगांव के पण्डित विहार में तन्त्रविद्या का अध्ययन होता था। इस विहार के भिक्षु तिलिपा तन्त्र विद्या के प्रसिद्ध आचार्य थे। यह उनके शिष्य नाड़पाद की तन्त्र विद्या में ख्याति से ज्ञात होता है। तिब्बती इतिहास से ज्ञात होता है कि पट्टी केरक नगर में एक विहार था। इस विहार में बैठकर आचार्य नाड़पाट ने वज्रपाद सार संग्रह ग्रन्थ लिखा था।

उस समय इन सब विहारों को सुरक्षित रखने के लिए और भिक्षुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजाओं से दान मिलता था जैसे ''मृगशिखावन'' विहार के खर्च हेतु श्री गुप्त ने बीस ग्राम दान में दिये। कृषि योग्य जमीन की आय से ही विहारों का खर्च चलता था। इस से ज्ञात होता है कि उस समय इन विहारों के आर्थिक व्यय का सम्पूर्ण भार राजाओं और धार्मिक जनताओं द्वारा दिये दान से ही चलता था।

चीनी यात्री इत्-सिङ् ने अपने यात्रा वृत्तान्त में भाराविहार के विषय में विस्तार से उल्लेख किया है। उस समय भिक्षुओं की जीवन प्रणाली और शिक्षा आदि के विषय में ज्ञात होता है कि भिक्षुओं के लिए कृषिकार्य निषिद्ध था। इसलिए विहार के सन्निकट गांव के कृषकों को खेती दी जाती थी। किसान उस खेती से उत्पन्न धान्य को तीन भागों में विभक्त कर विहार को देते थे। उस समय सभी विहारों की कृषि योग्य जमीन और बगीचे आदि होते थे। यह सब उस समय के राजाओं के द्वारा दान में दिया जाता था क्योंकि विहार में निवास कर रहे भिक्षुओं का खाना और शिक्षा आदि उसी पर निर्भर था।

भाराविहार में यह सब कार्य देखने के लिए जिस भिक्षु को नियुक्त किया जाता था उसको कर्मदान से जाना जाता था। उनका कार्य इस प्रकार होता था। विहार में घण्टी बजाना, चौबीस घण्टे में आठ बार घण्टा ध्वनि होती थी। प्रातःकाल चार बजे घण्टा ध्वनि के द्वारा शयन से जागकर बुद्धचिन्तन में ध्यान लगाते थे। द्वितीय बार घण्टी नहाने के लिए और पूजा के लिए सभी भिक्षुओं को सूचित करती थी। दिन को बारह बजे घण्टा ध्वनि के द्वारा भिक्षुओं को भोजन के लिए एकत्रित करना तथा उसी प्रकार भिक्षुओं को

विहारों में नियम पालन के लिए घण्टा ध्वनि होती थी। इस से यह प्रतीत होता है कि उस समय विहारों तथा उनसे सम्बन्धित शिक्षालयों में कितना अनुशासन था।

''भाराविहार'' किसी बाह्य व्यक्ति के अधीन नहीं था, उस विहार के मुख्य भिक्षु के द्वारा निर्वाचित कार्य परिषदों के द्वारा सभी प्रकार के कार्य और विहार के नियम आदि का निर्धारण होता था। यह कार्य परिषद विहार के स्थविर कर्मदन, वयोवृद्ध भिक्षु, भिक्षुणियों, श्रमण, उपासक एवं उपासिकाओं के लिए निवार्त्रित होती थीं। विनय नियम का पालन यहां इतनी दृढ़ता से होता था यदि कोई व्यक्ति किसी भिक्षु को खाने के लिए कुछ देता था तो वह परिषद की स्वीकृति बिना उसे खा नहीं सकता था। इस प्रकार के अनेक नियम थे जैसे भिक्षुओं को कार्य परिषदों के नियम से ही चलना। तद विपरीत आचरण करने पर उन्हें विहार से निष्कासित कर दिया जाता था। यदि कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु से मिलना चाहती है तो वह परिषदों की आज्ञा पर ही मिल सकती थी। वह किसी भिक्षु के कमरे में नहीं जा सकती थी, किसी कारणवश उसे बाहर जाना होता तो किसी गृहस्वामी के यहां जाना होता था तो चार भिक्षुणी मिलकर ही जा सकती थीं।

बड़े आचार्य और भिक्षुओं के रहने के लिए कार्य परिषद ही कमरे की व्यवस्था करती थी, विहार के परिचारकों को उन भिक्षुओं और आचार्यों के कार्य के निमित्त आदेश कार्य परिषद ही देती थी। जो आचार्य प्रतिदिन धर्म उपदेश देते थे उनके विहारों के दैनिक कार्य करने में प्रतिबन्ध नहीं होता था। यदि कोई गृहस्वामी भिक्षु बनने की इच्छा प्रकट करता था तो उसे विहार की कार्य परिषदों से आदेश लेना होता था। कार्य परिषद उस व्यक्ति के विषय में पूर्ण जानकारी के उपरान्त ही उसको पहले उपासक, तदुपरान्त भिक्षु बनाती थी, उसके पश्चात् विहार की पंजिका में उसको पंजीकरण होता था। अगर कोई भिक्षु विहार का नियम भंग करता था तो उसे विहार से निष्कासित करने का अधिकार कार्य परिषदों को होता था। प्रत्येक मास के चार दिन शाम को प्रत्येक विहार से भिक्षु इन विहार में एकत्रित होकर विहार के नियम और विनय के विषय में आलोचना करते थे और उन नियमों पर चलने के लिए सभी को प्रेरित करते थे। विदेशी भिक्षु के रहने और भोजन आदि का प्रबन्ध इन परिषदों द्वारा ही किया जाता था। पांच दिन विदेशी भिक्षु को उत्तम भोजन दिया जाता था। उसके बाद उसको विहार के अन्य भिक्षुओं के समान ही भोजन दिया जाता था।

भगवान बुद्ध के त्रिरत्न की उपासना ही प्रत्येक भिक्षु की मुख्य पूजा थी। विहार में बुद्ध-मूर्ति की पूजा प्रत्येक भिक्षु की प्रतिदिन का नियम था। प्रातःकाल विहार की घण्टा ध्वनि के साथ ही सभी भिक्षुओं के समक्ष विहार की बुद्धमूर्ति को सुगन्धित

पानी से नहलाकर उसकी पुष्प और अगर द्वारा पूजा की जाती थी। यह कार्य परिषद के आदेश से ही करना पड़ता था। इसके पश्चात् भिक्षु अपने-अपने कमरे में जाकर उसी प्रकार की मूर्ति की पूजा करते थे।

शाम को कार्यदान की घण्टा ध्वनि को सुनकर विहार से भिक्षु विहार का और स्तूपों की परिक्रमा के लिए एकत्रित होते थे। स्तूपों और विहारों की परिक्रमा करने के बाद भगवान बुद्ध का स्तोत्र पाठ करते थे। उसके बाद पूजा भवन में एकत्रित होते हैं। वहां पर बड़े भिक्षु के साथ सूत्रपाठ और बोधिचर्यावतार आदि ग्रन्थों का पाठ करते थे। तदुपरान्त भक्ति सूत्र से दस श्लोक पाठ करके पूजा का समापन करते हुए बोधिसत्व और अर्हतों के समक्ष नत मस्तक होते थे। प्रात: चार बजे की घण्टा ध्वनि होने पर भिक्षु अपने-अपने कक्ष में जाकर ध्यान और बुद्ध प्रार्थना करते थे। यही विहार के भिक्षु संघों की दिनचर्या थी। भारतवर्ष के प्रत्येक विहार में और भाराविहार में भी भिक्षु गृहस्वामियों के पुत्रों को शिक्षा देते थे और गुरु दक्षिणा के रूप में शिष्यों से भूमि आदि प्राप्त करते थे जो कि भविष्य में विहारों की सम्पत्ति बनी। जो शिष्य भिक्षु बने और शास्त्र अध्ययन करने के लिए आते थे उन सब उपासकों को श्वेत वस्त्र धारण करना होता था। और जो शिष्य मात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते थे, उनको ब्रह्मचारी कहा जाता था। ये दोनों प्रकार के शिष्य विहार में भोजन और वस्त्र का खर्च स्वयं ही वहन करते थे। उन्हें भोजन और वस्त्र के लिए धन विहार के भिक्षु संघ से प्राप्त नहीं होता था। लेकिन यदि कोई विद्यार्थी संघ के लिए कुछ कार्य करता था तो उसको भिक्षु संघ के कोषागार से कुछ अर्थ प्रदान किया जाता था या विहार में बिना खर्च से भोजन आदि की व्यवस्था होती थी। प्रतिदिन प्रात:काल में विद्यार्थी गुरु के समक्ष उपस्थित होते थे तथा गुरु को प्रणाम करके अध्ययन प्रारम्भ करते थे।

उस समय विहारों में छ: साल की आयु में शिक्षा प्रारम्भ होती थी। आट साल से पन्द्रह साल तक विद्यार्थियों को सूत्र, धातु, विभक्ति और पाणिनि के सुत्र आदि का अध्ययन कराया जाता था। चीन देश के भिक्षु ने ताम्रलिप्ति में आकर पहले पाणिनी के व्याकरण का अध्ययन करते थे। उस समय के विहार स्थित शिक्षालयों की शिक्षा व्यवस्था में इन विषयों की शिक्षा दी जाती थी। (1) शब्दविद्या (2) शिल्पविद्या (3) चिकित्साशास्त्र (4) हेतुविद्या (5) अध्यात्मविद्या आदि का गहन अध्ययन कराया जाता था और उपासकों के लिए विनयपर्यटक एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाता था।

उस समय विहारों में अध्यात्म शिक्षा के साथ-साथ चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिए उस समय तक्षशिला सबसे अच्छा माना जाता था। मिलिन्दपञ्ञों एवं जातक

आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण शिक्षा और बौद्ध शिक्षा दोनों ने मिलकर भारतवर्ष की शिक्षा और संस्कृति को उन्नत किया। हिन्दु सन्यासियों और बौद्ध भिक्षुओं ने तपोवन और विहारों में ही नहीं बल्कि विदेश में परिभ्रमण कर ऋषि मुनियों और भगवान बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया। जिसके फलस्वरूप उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण, छन्द, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष आदि शिक्षाओं के साथ-साथ तर्कविद्या, हेतुविद्या, चिकित्साविद्या, शिल्पविद्या और संगीतविद्या आदि को एक सूत्र में ग्रंथित कर भारतीय संस्कृति को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। उस समय विहार अध्यात्म शिक्षा के केन्द्र थे। भाराविहार, तक्षशिला और ताम्रलिप्ति विहारों में अध्यात्म शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक जीवन व्यवस्था की शिक्षा दी जाती थी। यही भारतीय शिक्षा का सर्वमान्य मूल मन्त्र था।

"श्रद्धया देयम्-श्रद्धया आदेयम्"



व्यंग्य-तरंग

दास्तान केले के छिलके की

○ अनिला सिंह चाड़क

वह अपने आप में मस्त था और हम अपने काम में व्यस्त। कभी एक आध बार दिन में उस रास्ते से गुज़रते वक्त उस पर नज़र पड़ जाती, तो हम कुछ पल को ठिठक जाते और सोचते कैसा मस्त मलंग है, जैसे दीन-दुनिया की खबर ही नहीं। आप सोच रहें होंगे ऐसा कौन सा प्राणी विचर रहा है इस संसार में जिसे कोई टेंशन नहीं, तो जनाब वह प्राणी नहीं मात्र एक केले का छिलका है जो पिछले पांच सालों से खिड़की के सीखचे पकड़कर लटक रहा है। क्या मजाल कि कोई उसको वहां से हिला दे, इस दुनिया में बड़े-बड़े महारथी आये और चले गये पर उसके अस्तित्व को भंग करने वाला इस संसार में नहीं हुआ।

उस छिलके से ढके हुए केले को खाने वाले उस महान व्यक्ति ने कभी सपने में भी नहीं सोचा होगा कि वह कितने महान केले के छिलके को फैंक रहा है। उस व्यक्ति ने भी आफिस की कुछ जरूरी फाइलों में से कुछ जरूरी काग़जों को ढूंढते वक्त केला खाया होगा और वहीं पर बैठे-बैठे पांच मीटर की दूरी से खिड़की की तरफ छिलका उछाल दिया होगा। पर धन्य है, वह केले का छिलका। जो खिड़की से कूद कर अपनी हड्डी-पसली तुड़वाने के बदले सीखच्चे पकड़कर लटक गया, मानो कह रहा हो, तू क्या मुझे मारेगा तुझे मारने वाले धड़ाधड़ इस पृथ्वीलोक में अवतरित हो रहे हैं, पर मुझे कोई नहीं मार सका।

सचमुच वह केले का छिलका अमर था, तभी तो अमर बेल की तरह इतने सालों से खिड़की के सीखचों से लिपटा हुआ था। लगभग सौ-दो-सौ लोग उस धीर-गम्भीर केले के छिलके को रोज़ ही देखते थे, वह भी उनकी आंखों में आंखे गड़ा कर बड़ी आशापूर्ण दृष्टि से उन्हें देखता और सोचता अगर यह लोग सिर्फ पांच छः मिनट के लिये मुझे यहां से हिला दें तो थोड़ी देर के लिए ही सही मेरा हवा पानी तो बदल जाये, चाहे फिर यह लोग मुझे दोबारा यथा-स्थान पर लटका दें, पर न किन्हीं हाथों ने उसकी ओर बढ़ना था और न ही बढ़े। तब भी नहीं बढ़े जब उसी दफतर में अपने आस-पास के वातावरण को सुन्दर बनाने के लिए बैठक बुलाई गई। जिसमें

प्रदेश भर के छंटे हुए नाटककारों, लेखकों व समाज-सुधारकों ने भाग लिया। उस मीटिंग में शहर की कई जगहों को सुन्दर बनाने के लिए अलग-अलग प्रोजेक्टस रखे गये, एक प्रोजेक्ट था शहर के सारे विद्यार्थियों द्वारा जगह-जगह उग आयी कांग्रेस घास की कटाई। चाहे उसे काट कर उन्हें अपनी रुकी हुई श्वास प्रक्रियाओं को फिर से चालू करने के लिए डाक्टर की मदद लेनी पड़ी। दूसरा प्रोजेक्ट था गरीबों की झुग्गी झोंपड़ियां उठवाकर एक बच्चों के खेलने का पार्क बनवाना। तीसरा प्रोजेक्ट था नुक्कड़ नाटकों का मंचन करके लोगों में वातावरण को स्वच्छ सुन्दर बनाने के प्रति जागरूकता लाना। चौथा प्रोजेक्ट था किताबें लिख कर लोगों में सौंदर्य बोध जगाना ताकि वह अपने आस-पास क़ो ज्यादा से ज्यादा सुन्दर बना सकें । पर सीखचे पकड़कर लटकता हुआ वह केले का छिलका सब कुछ सुनता रहा, उसे लगा अब तो शायद उसे हटा दिया जायेगा पर लोगों के दिमागों में उसको वहां से हटाने की कोई चेतना नहीं जागी। उस दिन वह सोचने लगा कि शायद उसमें ही अपने व्यक्तित्व को लेकर सौन्दर्यबोध की कमी है। हो सकता है उस दफ्तर के सारे कर्मचारियों का सौन्दर्यबोध इतना प्रखर है कि वह उस लटकते केले के छिलके में भी सौन्दर्य ढूंढ लेते हैं। इसीलिए तो शायद उसे हटाया नहीं गया।

उसे याद आया, जब साल के बाद इस्पेक्शन के लिए बड़े-बड़े अफ्सर आते हैं तो दीवारों पर लगी दीमकें, जाले, मेज, कुर्सियां साल में एक बार तो साफ हो जाती हैं पर उसे पिछले पांच सालों से नहीं हटाया गया। इसके बाद तो वह पूर्ण रूप से आश्वस्त हो गया कि वह खूबसूरत है और व्यर्थ की चिंता किये बगैर वह प्रजातन्त्र देश में मंद-मंद चलती हवाओं की लय पर हिचकोले खाता रहा।

थोड़े दिनों के बाद जाने कैसे उड़ती-उड़ती खबर साईंसदानों के पास पहुंच गयी। उस अजीबो गरीब केले के छिलके के बारे में साईंसदानों की टीम अपने नये-नये औज़ारों के साथ पहुंच गयी, उसका परीक्षण करके उसे जांचा परखा गया, नयी-नयी दवाईयों का उस पर असर देखा गया, उसके हृदय की धड़कनों को जांचा परखा गया, पर कोई असर नहीं हुआ वह वैसे का वैसा मस्ती में झूमता रहा खिलन्दड़ी बच्चे की तरह। आखिरकार उस केले के छिलके का एक टुकड़ा साईंसदानों ने काट लिया और लेबोट्ररी में परीक्षा के लिये उसे ले गये।

जाने कैसे वैज्ञानिकों के परीक्षण की खबर प्रेस वालों तक पहुंच गई। प्रेसवाले भी अपनी कैमरा टीम के साथ उस स्थान पर पहुंच गये, अगले दिन एक लम्बी रिपोर्ट के सात उस केले के छिलके के विभिन्न कोणों में तस्वीरें छपीं, रिपोर्ट में उसके इस टैंशन से भरे युग में भी इतना खुश और मस्त रहने और आंधी तूफान में भी अपनी

जगह से न हिलने की उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति पर जोर डाला गया था और तो और किसी को खुशी से एक जगह न टिके रहने देने वाले जंगली लोगों से घिरा वह केले का छिलका उनके पंजों से कैसे बच गया इस बात पर अखबार वालों ने खूब चर्चा की थी।

अखबार वालों की लम्बी रिपोर्ट पढ़कर अगले दिन कई तांत्रिक भी वहां आ पहुंचे उन्होंने उस में किसी भूत-प्रेत का चमत्कार बताया, उस केले के छिलके के आस-पास यज्ञ किया गया, चिमटे गर्म करके केले के छिलके के शरीर से छुआए गये, धूनी भी दी गयी पर वह छिलका उन्हें देख कर मंद-मंद मुस्कराता रहा और उन्हें चुनौती देता रहा कि, है ताकत मुझे डिगाने की तो डिगा कर दिखाओ। दुनिया वालो तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

अंत में विभिन्न धार्मिक संस्थाओं ने उसके आसपास कई दिनों तक डेरा डाला, किसी ने उसको हिन्दू बताया, किसी न मुसलमान और किसी ने सिक्ख। सभी ने अपने-अपने धर्मों की विशेषता बताकर उसे भड़का कर अपने में मिलाना चाहा, पर उसने किसी को ओर भी मुंह उठा कर नहीं देखा और निर्विकार सा सीखचों पर झूलता रहा। अंत में सभी संस्था वालों ने फैसला किया कि उसके हिन्दू-मुस्लिम या सिक्ख होने का फैसला इसी बात पर क्या जा सकता है कि फैंकने वाला किस धर्म का था, पर इससे क्या होता है, उस व्यक्ति की तलाश में पहले यह जानना जरूरी है कि उस केले का पौधा किसने उगाया था, वह जिस सम्प्रदाय का था इस पर तीसरा बोल पड़ा, पर इससे पहले यह जानना जरूरी है कि वह मिट्टी कौन से धर्म की थी जिसमें वह पौधा उगा था।

इस बात को लेकर वह सब आपस में बुरी तरह झगड़ने लगे और उस मिट्टी को अपने-अपने धर्मों की बताकर मारपीट करने लगे। अंत में किन्हीं बुद्धिमानों ने मिलकर फैसला किया कि उस केले के छिलके के धर्म का इसी बात से अंदाजा लगाया जा सकता है कि उसको खाने वाला का धर्म क्या था। उस केले का खाने वाले मुजरिम की तलाश में पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करवायी गयी पुलिस ने शक के बलबूते पर एक शख्स को पकड़ भी लिया पर उसने चुप्पी साध ली, सच को कसकर होंठों में भींच लिया, जिन्दगी भर अन्याय के खिलाफ लड़ने के बावजूद भी दंगे-फसादों के डर से वह शख्स उस दिन अन्याय सहता रहा और नैतिक मूल्यों को तिलांजलि देता रहा। अंत में कोई निष्कर्ष न निकलने के कारण मामला कोर्ट में दर्ज करवाया गया और उस केले के छिलके को फेंकने वाले शख्स पर अभी तक कोर्ट में मुकद्दमा चल रहा है।

एक दिन एक अजीब घटना घटी किन्हीं बदमाशों ने उसे चमत्कारिक पूंजी समझते हुए रातों रात भारी दामों पर मार्केट में बेचने के लिए अपने स्थान से उठवा दिया, और अंडर ग्राउंड कर दिया। वह छिलका जिंदा होने के बावजूद भी मरा समझ लिया गया था इसलिए वह कभी-कभी छिप कर यह तमाशा देखता और सोचता अगर उस दिन उस छिलके को केला खाने वाले ने कूड़े-दान में फैंका होता तो इतने लोग मरने से बच जाते। आज उस केले के छिलके की आंखों में हम आंसू देख रहे हैं। वह बड़ी दर्द भरी निगाहों से सीखचों की तरफ देख रहा है और गुनगुना रहा है।

बाज़ी चा-ए-अतफ़ाल है दुनिया मेरे आगे।
होता है शब-ओ-रोज़ तमाशा मेरे आगे।।



कवितायें

सन्नाटा

○ सूर्यभानु गुप्त

रुह तक घूमता है सन्नाटा
मुझमें क्या ढूंढता है सन्नाटा
जैसे उजड़े मकान में सब्जा
मुझसे यूं फूटता है सन्नाटा
उम्र भर कच्ची रह गुज़ोएं पर
आहटें सूंघता है सन्नाटा
खोल से अपने मैं निकलता हूं
धान सा कूटता है सन्नाटा
एक दिन भीगता है मेले में
सारा घर सूखता है सन्नाटा
फीका पड़ता है जग का हर झूला
मुझको जब झूलता है सन्नाटा
खुद को खुद ही पुकार कर देखो
किस कदर गूंजता है सन्नाटा
क्या करुं जिंदगी की चादर का
रंग सा छूटता है सन्नाटा
शोर उठता है जब किसी घर का
रस्ता भूलता है सन्नाटा
तोड़ पाये ना सिर फिरा कोई
ऐसे बुत पूजता है सन्नाटा।
खत्म होते ही हर महाभारत
खैरियत पूछता है सन्नाटा



परिचय पत्र

○ विवेक उपाध्याय

दुष्यंत को चाहिए
शकुंतला का परिचय पत्र।
नहीं जानता वह
कि सुदूर वन प्रदेश में
उसका फेंका हुआ सिंदूर
किसी के माथे पर जा लेग
कलंक की तरह।
अस्वीकार है उसे
उस सिन्दूर का लौट आना
इसीलिए
दुष्यंत को चाहिए
शकुन्तला का परिचय पत्र

लड़खड़ाती हुई शकुन्तला
कांपती है–'दुर्वासा का शाप'
ढूंढ़ना चाहती है–खोई हुई अंगूठी।
दिखा देना चाहती है पणिग्रहण का प्रतिबिंब।
टटोलती है–सिन्दूर की रेखा।
किन्तु असफल
नहीं दे सकी वह अपनी परिचय पत्र
जो जरूरी है दुष्यंत के लिए।
उठता है अंधेरे से प्रश्न
कौन दुर्वासा ?
क्या वही जो भागा था अंबरीश से-

भयभीत हो
गिर पड़ा था चरणों में
फड़फड़ाई थी जिसकी जिह्वा
क्षमा के दयनीय शब्द-पंखों सी।
उसी जिह्वा ने कैसे धकेल दिए शापित शब्द
शकुन्तला के लिए।
बिना पूछे, बिना मांगे
दुर्वासा का परिचय पत्र।
निरुत्तर हैं प्रकाश से उठने वाली आवाज़ें
चुप है दुष्यंत।
सोच रहा है, शिकार पर हिरण शावकों-
को भेदने वाले तीर
कैसे जीवित छोड़ आए होंगे
किसी शकुन्तला को नेतृत्व हेतु

दुर्वासा के शाप से
कहीं है कोई गुप्त समझौता दुष्यंत का
तभी तो दुर्वासा और दुष्यंत के बीच

खड़ी हुई शंकुतला
स्तब्ध ! अकेली
खोज रही है निरंतर
न जाने कब से
अपना परिचय पत्र।



सफेद ओस

इसी पहाड़ी पर उतरती थी कभी
कंपकंपाती सफेद ओस।
देखा था मैंने उसे
ऊनी स्वेटरों के पीछे छुपकर
सुबह और सांझ सर्दियों में
अपने दोनों हाथ जेब में डालकर
बुलाता रहा था यहीं
इसी दुर्गम पहाड़ी से
लौटती हुई अपनी प्रतिध्वनि को
तब दूर-दूर तक प्रकृति
छुपी रहती थी इसी कोहरे में
मकान, आदमी, पक्षी, नदी सब
ओढ़ लेते थे
सफेद ठण्डी चादर

उस समय जागता था मैं जल्दी
दौड़कर आता था यहां
इसी पहाड़ी पर
इसी ठण्डे कुहासे को देखने
दिखती थी यहां से धुंधली बस्ती
यही वृक्ष के नीचे
बैठता था मैं, घण्टों
कसता रहता था
मफलर की गांठ को बार-बार
दादी की सफेद धोती जैसी
ओस के लिए

जो उतरती थी, इसी पहाड़ी पर
लेकिन अब नहीं उतरती
वह सफेद धुंध
अब उठता है यहां
बस्ती की चिमनी का
काल, गाढ़ा धुंआ
फैल जाता है जो,
पहाड़ी पर।
नहीं है अब कोई पेड़
नहीं पुरानी सफेद चादर धुंध की
लौट जाता हूं निराश।
इसी बस्ती की चिमनियों ने
सफेद ओस को मार डाला



कीड़े की तरह

दब गया मैं
तुम्हारी किताब के दो पृष्ठों के बीच में
बिल्कुल किसी कीड़े की तरह।
तुम कहते थे कि–
'किताबें कहती हैं सिर्फ सच।'
और मैं कहता था –
नहीं, कभी–कभी
झूठ भी बोलती हैं
सफेद या पीली पड़ी हुई किताबें।
पढ़ रहे थे तुम भी
पूर्वजों की तरह
और मान लिया तुमने, सच।
लेकिन मैं
ढूंढ़ता ही रह गया सच।
तब तक
पलट दिया तुमने पन्ना।
चीख पड़ा मैं
क्योंकि दब गया था
दो पृष्ठों के बीच में
बिल्कुल किसी कीड़े की तरह।
वर्षों बाद उसे पढ़ेगी
तुम्हीर ही कोई पीढ़ी
इसी पृष्ठ पर मिलेंगे

खून के कुछ छींटे
विचारों के दाग़
पवित्रता के प्रश्न-चिन्ह।
लेकिन पढ़ा जाएगा इसे
फिर उठेगी परिचित चीखें
फिर निकलेंगे अगले संस्करण
असंशोधित।
पृष्ठ बदल जायेंगे
लेकिन नहीं बदलेंगे
ये डरावने, विषैले अक्षर।



गीत

○ शिव कुमार शर्मा

जां बैठे परदेस पियरवा, जा बैठ प़रदेस
न ही लीनी, मोरी ख़बरिया
न कोई संदेस, हाये राम
जा बैठे परदेस.............

यह विरह की रात चांदनी
जाये मन को छेद
पियरवा जा बैठे परदेस............

सूना-सूना आंगन मोरा
लागे मन को ठेस
पियरवा जा बैठे परदेस............

बुझा बुझा सा मनवा मेरा
उलझे-उलझे केस
पियरवा जा बैठे परदेस............

✲✲✲

कहानियां

अब अकनंदुन कहां है

○ महाराज कृष्ण संतोषी

कश्मीर में ऐसी कोई मां नहीं होगी जिसने लोक कथा अकनंदुन सुन कर आंसू न बहाए हों। बचपन में कई बार मैंने यह कथा अपनी मां से सुनी होगी। हर बार मां के गाल आंसुओं से भीग जाते थे। एक बार मैंने मां से पूछा भी था–

'मां ! इस कहानी में ऐसा क्या है जो तुम रोती हो?'

'तुम्हारे जब अपने बच्चे होंगे तो स्वयं ही समझ जाओगे' मां ने सहज होकर उत्तर दिया थां। आज मैं दो बच्चों का पिता हूं। बच्चों के प्रति अपने वात्सल्य से मुझे अब इस कहानी की मार्मिकता समझ में आई है।

○

लोक कथा में बारह वर्षों के बाद जब जोगी आता तो मां उदास होने लगती। उसे यूं लगता जैसे जोगी उससे ही उसका बेटा छीनने आया है। वह उस समय को कोसती जब उसने जोगी की शर्त स्वीकार कर ली थी। उस समय मां निःसंतान थी और पुत्र के लिए तड़पती थी। जोगी ने मां को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था और साथ में एक शर्त भी रखी थी।

'कौन सी शर्त ?' मां ने पूछा था।

'तुम्हारा पुत्र केवल बारह वर्ष तुम्हारे पास रहेगा........'

'और उसके बाद ?' मां के स्वर में कंपन था।

'उस के बाद वह मुझे लौटाना होगा' मां का चेहरा बुझ सा गया था और पिता का रंग भी उड़ गया था। दोनों ही 'हां' और 'ना' के बीच झूल रहे थे.

'हमें स्वीकार है।' बहुत देर बाद हवा में उन की सहमति का संयुक्त स्वर एक साथ तैर गया था ।

○

मां को अकनंदुन 'गाथा गीत' सुनना बहुत पसन्द था। इसे गुलाम मोहम्मद डार ने अपनी मधुर आवाज़ में गाया था। मां, आए दिन मुझ से रेडियो कश्मीर को फरमाइशी

● कश्मीरी लोक कथा का एक प्रसिद्ध पात्र ।

खत लिखने को कहती। जब कभी वह रेडियो से गाना प्रसारित होता, वह सारे काम छोड़ कर उसे तन्मयता के साथ सुनती। कभी-कभी मैं भी उसके साथ होता। वह उस समय सचमुच ही अकनंदुन की मां बन जाती और मैं भी अपनी कल्पना में अकनंदुन बन जाता था ।

'मां.जोगी आया है' मैं कहता।

'तुम कहीं छिप जाओ अकनंदुन ! मैं जोगी से कहूंगी कि तुम अपने ननिहाल गए हो' मां के स्वर में हड़बड़ी होती।

'वह क्यों मां ?' मैं आश्चर्य में पूछता।

'मैं नहीं बता सकती (अपने आप से) नहीं, नहीं मैं तुम्हें जोगी को नहीं सौंपूंगी।'

उधर जोगी गुहार पर गुहार लगाता।

'कहां है अकनंदुन ? उसे जल्दी .... बुलाओ'

मां विवश हो जाती। अपने पति और अकनंदुन को साथ लेकर बाहर निकल आती। जोगी अकनंदुन को अपनी तरफ़ खींच लेता।

'भूख लगी है।' जोगी कहता

'साग-भात तैयार है, जोगी महाराज ।'

'नहीं, मुझे मांस चाहिए'

'क्षमा करें जोगी महाराज ! मांस इस समय कहां से मिल सकता है ।'

'मुझे किसी पशु का नहीं, तुम्हारे बेटे का मांस चाहिए'

'त्राहि ! त्राहि! यह आप क्या कह रहे हैं महाराज !' शोक में डूबी मां का स्वर व्याकुल होता।

लोककथा में दर्ज है कि माता पिता ने विवश होकर अपने बेटे को मार डाला। उस का मांस बड़ी देगची में पकाया। फिर उसे चार थालियों में परोसा गया। एक थाली जोगी के लिए। दो थालियां माता-पिता के लिए। चौथी थाली अकनंदुन के लिए।

'जाओ खिड़की से अकनंदुन को बुलाओ' जोगी मां से आदेश के स्वर में कहता।

'अकनंदुन ! अकनंदुन!' आकुल कंठ से मां पुकारती!

'आया मां !.......' वापस अकनंदुन की आवाज़ गूंजती। मां जोगी की माया में उलझ कर रह जाती। पीछे मुड़कर देखती तो न कहीं जोगी होता और न परोसी गई थालियां ही दिखाई देतीं ।



निर्वासन में मां अकनंदुन की कथा ही भूल गई थी। पराये शहर में सौतेली-धूप में उस का जैसे मर्मस्थल ही सूख गया था। वह जहां, जिस दिशा में भी देखती धूल, धुंआ, रेत और कंटीली झाड़ियां ही नज़र आतीं। कहां चार मंज़िला मकान की खिड़कियों से देखने की अभ्यस्त मां, इन दिनों खिड़की से देखने के लिए विवश कर दी गई थी। वह जब-जब खिड़की से बाहर देखती तो कांपने लगती। उसकी यह हालत देख कर ही मैंने उसे खिड़की से बाहर देखने के लिए मनाह भी किया।

एक दिन मैंने मां से कहा।

'चलो मां, आज मैं तुम्हें अकनंदुन की कथा सुनाऊंगा'

'मां को रुलाना चाहता है।' हंसते हुए मां ने कहा।

'नहीं मां। ऐसी बात नहीं'

'मां मज़ाक कर रही थी। अच्छा चलो सुनाओ । देखती हूं तुम्हें कहानी कहने की कला आती है या नहीं।'

और मैंने कहानी शुरू की। तख्तपोश पर मां तनिक लेट गई।

'मां! इस बार हुआ यूं कि जोगी के आने से पहले ही अकनंदुन मारा गया। वह अपने बारहवें जन्मदिन के लिए बाज़ार से कुछ विशेष लाने गया था। शायद डाकख़ाने से कुछ लिफाफे। वे लिफाफे उसे किन्हें लिखने थे, कुछ पता नहीं। हो सकता है वे उसे उन मित्रों को लिखने थे जो हिजरत कर गये थे। मारा गया अकनंदुन। सड़क पर एक हथगोला फट गया था जिसने उस की जान ली। वह हथगोला उसके ही हमशक्ल किसी दूसरे अकनंदुन ने सुरक्षा बलों पर फैंका था। बहुत रोई अकनंदुन की मां। कुछ ही दिनों में जोगी आने वाला था। तब वह जोगी को क्या कहेगी। उसे कैसे अपनी अमानत सौंप देगी ? नहीं, नहीं, वह जोगी को अपनी मुहं नहीं दिखा पाएगी। वह कहीं चली जाएगी.... छिप जाएगी अब उसका कौन था यहां। पति पहले ही अपनी राह जा चुका था। अब बेटा भी नहीं। नहीं, नहीं अब वह यहां नहीं रहेगी। पत्थर बांध कर नदी में डूब जाएगी। उसके बाद अकनंदुन की मां कहां गई, कोई नहीं जानता।'



शहर में बदस्तूर हथगोले फट रहे थे। जगह-जगह सैनिक तैनात थे। सड़कों पर पहले जैसी चहल-पहल नहीं थी। बारह वर्ष पूर्व जब जोगी इस शहर में आया था तब कितनी शान्ति थी और कितनी रौनक, कितनी पावनता, कितना सद्भाव। लोगों के चेहरे पर रजत मुस्कानें हमेशा खिली रहतीं। नदियां, मौसम, हरियाली कितने सुन्दर लगते थे। अब इन नदियों में झांकने पर अपनी ही परछाईं से डर लगने लगता है। अविश्वसनीय मौसम तथा हरियाली से सड़े हुए मांस की बू आती। जोगी खड़ाऊं पहने था फिर भी वह क्षिप्र गति से चल रहा था। जब वह अकनंदुन के घर पहुंचा तो उसे यह देख आश्चर्य हुआ कि दरवाज़े पर ताला लटक रहा था। आज तक लोक कथा में कभी ऐसा नहीं हुआ था। कुछ अमंगल अवश्य घटा होगा। शहर का वातावरण पहले ही संदिग्ध लग रहा था। शहर में से गुज़रते हुए ऐसा लग रहा था जैसे वह मातम की राजधानी बन गई हो। मकान खाली, सूने पड़े दिखाई दे रहे थे। अधजले मकानों की संख्या भी कम नहीं थी। तो क्या इस शहर में कोई दैत्य आया है जिसने इतनी तबाही मचा दी है ? कहीं अकनंदुन का परिवार भी इस तबाही में उजड़ तो नहीं गया है ? पर दरवाज़े पर लगा ताला यह संकेत दे रहा था कि घरवाले डर के मारे कहीं भाग गए हैं।

जोगी काफ़ी पैदल चल कर आया था। उसे थोड़े आराम की आवश्यकता अनुभव हुई। वह किसी विश्रामस्थल की ओर चल पड़ा। पास के चिनार बाग में थोड़े से बचे सब्ज़ार पर वह लेट गया। लेटते ही उसकी आंख लग गई। वह बहुत देर तक सोता ही रहता यदि उसे अपने शरीर में किसी कठोर चीज़ के चुभने का आभास नहीं होता। वह हड़बड़ी से उठा। उसने कुछ सिपाही सामने देखे। उन में से एक सिपाही बंदूक की नोक छुआते हुए पूछ रहा था–'तुम कौन हो और यहां क्या कर रहे हो ?'

'मैं जोगी हूं '

'जोगी हो तो इस आतंक नगर में तुम्हारा क्या काम।'

'मैं बारह वर्षों के बाद इस शहर में आया हूं, और मुझे कुछ भी मालूम नहीं।'

'तो वापस जाओ, जोगी महाराज' एक सिपाही ने झूठी भक्ति के अंदाज़ में कहा।

'कहां जाऊं ? कैसे जाऊं ? जब तक अकनंदुन वापस घर लौट नहीं आता' जोगी के स्वर में करुणा थी।

'तो तब तक कारावास में रहो। हम वहां तक पहुंचाने में तुम्हारी सहायता करेंगे।' इस कथन पर सारे सिपाहियों ने एक साथ ठहाका लगाया। उस सामूहिक हंसी मजाक के बीच एक सिपाही का आदेशत्मक स्वर गूंजा।

'संध्या हो रही है, तुम अपना-बसेरा ढूंढ लो जोगी।'

'बसेरा। बसेरा !' सिपाही के इस शब्द पर वह बहुत हंसा। उसकी हंसी में इतना बल निकला कि वे सारे सिपाही वहां से बिना हुज्जत किए चल दिए।



रात को फिर जोगी अकनंदुन के घर लौट आया। दरवाज़े पर ताला यथावत् था। आस-पास के घरों में मद्धिम रोशनियां छन कर बाहर आ रही थीं। वह दरवाज़े के निकट आ खड़ा हुआ और ताला हिला-हिला कर पुकारने लगा-अकनंदुन ! मेरे अकनंदुन! तुम कहां हो। वह काफी देर तक पुकारता रहा लेकिन कोई खिड़की तक नहीं खुली। बहुत देर बाद धीरे से एक खिड़की खुली। चांदनी रात थी और उस चांदनी में उस खिड़की से किसी स्त्री का चेहरा दिखाई दिया। उसने हाथ के संकेत से जोगी को अपने घर के निकट बुलाया।

'चुप हो जा जोगी ! मेरा अकनंदुन-सो रहा है। आज ही दो साल बाद जेल से छूटा है। अभी-अभी मेरा अकनंदुन-सोया है। तुम अपनी चीख पुकार से उसे मत जगा। मैं मिन्नत करती हूं जोगी ! तू यहां से चला जा' उस स्त्री की आंखों में तरलता थी और वाणी में गीलापन।

'मगर मेरा अकनंदुन ?' जोगी ने दीन स्वर में कहा ।

'तुम्हारा अकनंदुन मारा जा चुका है। अब वह कभी वापस लौट कर नहीं आएगा।'

'और उस का परिवार ?'

'पता नहीं । अब जोगी तू चला जा' उस स्त्री के स्वर में चिढ़ थी। जोगी ने उस मां की भावनाओं का सम्मान किया और वह वहां से चल पड़ा। सुबह झील के किनारे उस की लाश मिली।

'तुम सुन रही हो ना मां।

बेचारा जोगी................।'



संवाद

आम पाठक भ्रम की स्थिति में दिशाहीन हो गया है

○ आशारानी व्होरा

(बहुआयामी रचनाकार आशारानी व्होरा से डा. राजेन्द्र परदेसी की बातचीत)

–हमारी युवा पीढ़ी आपके व्यक्तिगत जीवन के बारे में भी कुछ विशेष प्रेरणापरक हो तो पहले उसे जानना चाहेगी।

–मेरा जन्म ननिहाल के ग्राम दुल्हा, तहसील चकवाल जिला झेलम, पश्चिम पंजाब (अब पाकिस्तान में) में हुआ। विवाह के पूर्व केवल मिडिल तक शिक्षा ग्रहण की। शेष शिक्षा जीवन के अनुभवों ने पूरी की। यूं यदा-कदा परीक्षाएं देकर एम.ए. (समाज शास्त्र) आदि की डिग्रियां प्राप्त कीं हैं मैंने।

बचपन ग्वालियर रियासत के सुविधा सम्पन्न सामंती माहौल में बीता और शेष जीवन निरंतर संघर्ष की आंधियों में डोलता। किन्तु न जीवन यात्रा की इन कठिन कंटीली राहों ने मेरे अंतर्विरोधों को हवा दी, न पथ की ठोकरों ने उसे कुंठित किया। असफलताओं ने मेरे भीतर की आस्था को ही खण्डित किया। संभवत: इसके पीछे मेरे किशोर सपनों में कुछ बनने, कुछ पाने की अस्पष्ट-सी अभीप्सा, असंभव-से दीखने वाले लक्ष्य को भी पाने की ललक के साथ, नव जागरण और स्वातंत्र्य-संघर्ष काल की संस्कार जनित आंतरिक प्रेरणा से समाजोत्थान के प्रति समर्पण भावना की झिलमिलाहट भी रही हो, जो कदाचित धीरे-धीरे प्रबल से प्रबलतर होती गयी।

प्रारंभ बाल्यावस्था की तुकबंदियों के बाद कविता से सामाजिक कर्म-क्षेत्र की व्यस्तताओं के बीच ही काव्य-सृजन एवं यत्र-तत्र प्रकाशन होता रहा, नियमित लेखन लेखन कार्य को पूर्ण कालिक आजीविका-साधन बनाने के बाद ही हो पाया।

–आपकी रचनाओं की मुख्य प्रवृत्तियां क्या हैं ?

–प्रारंभ में कवितायें आदि लिखती रही लेकिन देश के विभाजन के समय व उसके बाद धन-सम्पत्ति व्यवसाय हानि के बाद जब लेखन को ही जीविका-आधार बनाना पड़ा तो लेखन स्पष्टतया तीन धाराओं में बंट गया। पहला-भीतरी छटपटाहट की अभिव्यक्ति के लिए स्वांत: सुखाय रचनात्मक लेखन, दूसरा-जीविकोपार्जन के लिए महिलाओं के चहुंमुखी प्रशिक्षण से संबंधित ज्ञान-विज्ञान का तकनीकी व्यावसायिक

लेखन । और तीसरा–अपने भीतर की सामाजिक कार्यकर्त्ता की मिशनरी प्रेरणा से महिलाओं की दशा, दिशा पर और सार्थक सामाजिक बदलाव के लिए व्यावहारिक समाज शास्त्र व खोजपूर्ण लेखन क्योंकि कोई भी समाज मात्र कविता, कहानी से ऊर्जा ग्रहण नहीं करता, न कोई रचनाकार मात्र इनसे जीविका ही चला सकता है।

विश्व पुस्तक मेले में घूमते हुए आपको यह एहसास हुए बिना नहीं रहेगा कि अंग्रेजों में ज्ञान–विज्ञान की पुस्तकों की संख्या 90 प्रतिशत है, साहित्यिम कृतियों को दस प्रतिशत, जबकि हिन्दी में इसके विपरीत स्थिति मिलेगी। यहां 90 प्रतिशत साहित्य छपता है, ज्ञान–विज्ञान की विविध पुस्तकें 10 प्रतिशत, हिन्दी पाठक उनकी तलाश में भटकते मिलेंगे, रचनात्मक साहित्य और कथित लोकप्रिय साहित्य के बीच की गहराती खाई से भी स्थिति उलझी है, कोई साहित्यिक कृति लोकप्रिय कृति क्यों नहीं हो सकती ? उसे अधिक पाठकों तक क्यों नहीं पहुंचना चाहिए ? इसी तरह प्रबुद्ध पाठकों को जीवनोपयोगी साहित्य क्यों नहीं पढ़ना चाहिए इस विभाजन को गहराने वाली यह स्थिति बदलनी चाहिए।

–कुछ रचनाकार ऐसा स्वीकारते हैं कि साहित्यिक ईमानदारी के लिए सामाजिक ईमानदारी जरूरी नहीं है, वैसे इस संदर्भ में आपकी क्या राय है ?

–मेरी राय में तो सामाजिक ईमानदारी ही नहीं, इंसानी ईमानदारी भी जरूरी है। रचनाकार की रचनाएं उसके व्यक्तित्व का आईना भले ही न हों, यदि उसका व्यक्तित्व एक अपेक्षित ऊंचाई पर स्थित है तो प्रत्यक्ष, परोक्ष किसी भी रूप में उसका प्रतिबिम्ब रचना में झलकेगा ही, अतः मानव मूल्यों एवं नैतिकता में आस्था के लिए रचनाकार के व्यक्तित्व में इसकी अपेक्षा पाठक भी करते हैं और रचना में इनके प्रति प्रतिबद्धता देखते हुए कहीं न कहीं रचनाकार में भी इन्हें तलाशते हैं। वास्तव में साहित्यिक ईमानदारी व्यक्तित्व और कृतित्व में समरसता की मांग करती ही है।

–आज के लेखक के सामने सबसे बड़ी समस्या पाठक की है, पर देखता हूं कि पुस्तकों से देश के पुस्तकालय भरे पड़े हैं, फिर ऐसे लेखन का औचित्य क्या है ?

–आज के लेखक के सामने सबसे बड़ी समस्या पाठक की है। यह सत्य है कि पाठक के अभाव के लिए लेखक ही क़िसी हद तक जिम्मेदार है। कुछ दशक पूर्व हमारे यहां साहित्य के पाठक और लोकरंजक साहित्य के पाठक बहुत अलग नहीं थे। क्योंकि लोकरंजक साहित्य अधिकतर नीतिपरक ही था। हमारी श्रुति–परम्परा इसका प्रमाण है। यह तो साठ सत्तर के दशक में, जब पश्चिमी साहित्य के मूल्य लगभग सीधे आयात कर लिए गए, दो विश्व महायुद्धों के बाद वहां जो पारिवारिक और सामाजिक विखण्डन आया, विश्व युद्धों की सीधी छाया से बचे भारतीय साहित्य

में विखण्डन के उस प्रभाव को हमने कथित आधुनिक साहित्य में सीधे उतार लिया, तो न केवल हमारे परिवार, समाज ने उस विखण्डन का कुप्रभाव झेला, साहित्य का आम पाठक भी साहित्य से कटकर पटरी पर उतर गया। साहित्यिक पुस्तकों की खपत क्रमशः कम होती गई। मनोरंजक साहित्य के नाम पर मारधाड़, हिंसा, सैक्स प्रधान जासूसी, अपराध कथाओं का बोलबाला हो गया।

ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि साहित्य अपनी जड़ों से कट गया था। आम पाठक भ्रम की स्थिति में दिशाहीन हो गया, यह स्थिति अधिक देर तक नहीं चल सकती थी, नहीं चली, कथित आधुनिक साहित्य की पुस्तकों के हजार, दो हजार के संस्करण नहीं बिके, वास्तव में पाठक की समस्या सामने आयी तो हमारे साहित्यकार फिर से जड़ों की तलाश करने लगे, लेकिन कुछ समय तक 'जड़ों की तरफ लौट' की चर्चाएं अधिकतर गोष्ठियों तक सीमित रही, वास्तव में यह लौट सोवियत संघ के विखराव के बाद प्रारम्भ हुई है। अब तो साहित्य अकादमी भी 'हमारी शाश्वत परम्परा' जैसे विषयों पर संगोष्ठियां आयोजित कर, परम्परा और आधुनिकता के अंतरंग सम्बन्ध तलाशते हुए विकास की जड़ों से जोड़ने के लिए प्रयासरत हैं। आज पाठक के अभाव की समस्या का मुख्य कारण कथित मनोरंजक साहित्य और विशुद्ध साहित्य की खाई नहीं, दृश्य-मीडिया का उत्तरोत्तर बढ़ता प्रभाव है, जिसके अपने खतरे हैं, भूमंडलीकरण और उदारीकरण के नाम पर आकाशीय हमले की छूट से साहित्य का पाठक ही कम नहीं हुआ, अपसंस्कृति के फैलाव से हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को ही खतरा उत्पन्न हो गया है। फिर भी पुस्तकालयों में पाठक भले ही कम हों, संचार के दृश्य-माध्यम साहित्य को समाप्त नहीं कर पाएंगे। साहित्य का पाठक आज भी अच्छी पुस्तकों की तलाश में रहता है। यदि साहित्य उसके परिवेश से कटा न हो और प्रकाशक पुस्तक को पाठक तक पहुंचाने (केवल पुस्तकालयों तक नहीं) की समुचित व्यवस्था करे, तो न पाठक की समस्या रहेगी और न लेखन के औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाने की।

–अपनी किस कृति में आपको सृजन का सर्वाधिक आनंद मिला और ऐसा लगा कि उसके माध्यम से आपने देने की अपेक्षा पाया अधिक है ?

–सृजन का पूरा संतोष देने वाली कृति तो किसी भी रचनाकार के लिए भविष्यगर्भा ही होती है। फिर भी यदि अपनी कृतियों को लेकर उत्तर देना जरूरी हो तो मैं कहना चाहूंगी कि मुझे दो प्रकार की कृतियों से संतोष मिला है–1. नारी की दशा-दिशा, स्थिति-प्रगति पर तटस्थ दृष्टि (नारीवादी नहीं) से खोजपूर्ण व्यवहारिक

समाजशास्त्रीय लेखन से संबंधित चार पुस्तकों से 2. पुनः 'भारतीयता की ओर' पुस्तक द्वारा वर्तमान सामाजिक स्थितियों के अन्वेषण, विश्लेषण से।

–आज नारी-स्वतंत्रता की बड़ी वकालत की जा रही है, जबकि आजादी के पचास वर्ष बाद भी समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग बंधुआ-की जिन्दगी जी रहा है। ऐसे में उपरोक्त बातें अभिजात्य वर्ग की चोंचलेबाजी के सिवा और क्या है ?

–आपके इस प्रश्न से किसी हद तक मैं सहमत हूं। किन्तु नारी के बंधुआ या दलित शब्द मैं सहन नहीं कर पाती। नारी शक्ति है और मां के नाते पुरुष से ऊंची, मेरी मान्यता है कि समानता की मांग कर के कथित आधुनिक स्त्री स्वयं को अपने इस दर्जे से नीचे गिराती है, प्रकृति ने स्त्री-पुरुष को परस्पर पूरक बनाया है, समान नहीं और मां के नाते स्त्री को पुरुष से ऊंचा दर्जा दिया है। भारतीय संस्कृति में जो 'अर्द्धनारीश्वर' की परिकल्पना है, वह संसार की किसी भी संस्कृति में नहीं मिलेगी। हमारे समाज में स्त्री को जो उसका दर्जा नहीं मिल पाया है तो इसका कारण मध्यकाल से विदेशी हमलों और सामन्ती परम्परा से उत्पन्न हीन संस्कार हैं सदियों से ये संस्कार पुरुष के, स्त्री के, दोनों के किसी कानूनी झटके से नहीं बदले जा सकते। ना ही अधिकार मांगने की चीज है। अर्जित अधिकार कोई छीन नहीं सकता। अधिकारों का अर्जन बाह्यपरिस्थितियों एवं आंतरिक शक्तियों पर निर्भर करता है।

आपने जिस अभिजात्य वर्ग की नारी की चोंचलेबाजी का जिक्र किया है, वह वास्तव में पाश्चात्य, वीमेन्सलिब की देन है, जिसके लिए हमारे यहां न कोई जमीन थी, न है। नवजागरण काल में हमारे समाज सुधारक नेताओं ने स्त्री को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी और स्वतंत्रता-संग्राम सबने कंधे से कंधा मिलाकर सांझे रूप में लड़ा। तभी तो आजादी मिलने के साथ ही संविधान में स्त्री-पुरुष समानता की बात सामने आ सकी। स्वतंत्रोपरांत उन वैधानिक अधिकारों को सामाजिक अधिकारों को बदलने की ही बात थी, जिसे स्त्री-पुरुष प्रतिद्वंद्विता एवं अहम् के टकराव में उलझा दिया गया। वर्तमान समाज में स्त्री-शोषण इसीलिए बढ़ा है। शोषण मुक्ति के लिए नारेबाजी द्वारा सड़कों पर लड़ाई लड़ने के बजाय, नारी को अपनी आंतरिक शक्ति को जगाना होगा, अपने खोए मातृपद की प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करना होगा और अपनी लक्ष-लक्ष पिछड़ी बहनों को ऊपर उठाने के लिए सतत प्रयासरत रहना होगा। तभी समाधान संभव है और तभी अभिजात्य वर्ग की अल्पसंख्यक नारी एवं बहुसंख्यक आम स्त्री के बीच की खाई को पाटा जा सकेगा। अन्य कोई "शाटकर्ट" रास्ता नहीं है, नई पीढ़ी को दोष देने के बजाय, मां द्वारा प्रदत्त संस्कारों की दिशा ही बदलनी होगी। तभी समाज में उत्तरदाई युवापीढ़ी की भूमिका तथा समाज में स्त्री की नियन्ता की भूमिका इसी पर निर्भर है।

महिला-लेखन और पुरुष-लेखन के विभाजन की बात गलत है। मानवीय अनुभूतियां स्त्री-पुरुष की निजी अनुभूतियां उन्हें कहीं न कहीं अलग रेखांकित करती ही हैं। यहीं पर स्त्री, पुरुष के लेखन में कुछ भेदलक्षित होता है। उसे संदर्भ से काटकर देखना गलत होगा। यथार्थ चित्रण के क्या मायने हैं ? पुरुष उन स्थितियों से नहीं गुजरेगा, जिनसे स्त्री गुजरती है तो वैसा यथार्थ चित्रण उसके लिए संभव ही नहीं होगा। बस इस भेद के अलावा स्त्री, पुरुष लेखन में अन्य कोई भेद नहीं है । मानवीय धरातल पर सब समान है।

–हिन्दुस्तान की आबोहवा में रहन-सहन में इंसानी रिश्तों में, हमें आज कौन सा धरातल मिलता है। क्या आज का लेखक अपने लेखन में समेट रहा है, अगर नहीं, तो क्यों ?

–एक अवधि से हमारा समाज सांस्कृतिक संक्रमणकाल से गुजर रहा है। परिवर्तन प्रकृति के नियम है, विखण्डन स्थितियों की देन। पश्चिमी प्रभाव से हमने आधुनिकता अपनाई और उसी प्रभाव से उत्तर आधुनिकता अपना रहे हैं। किन्तु आधुनिकता आसमानी चीज नहीं है। हम वैज्ञानिक दृष्टि, समाज शास्त्रीय दृष्टि अपनाए बिना आधुनिकता का मुखौटा ओढ़े रहे और अब उस मुखौटे को उतारे बिना उत्तर आधुनिकता की बात करने लगे हैं, जबकि आधुनिकता से गुजरने उसके प्रभावों, कुप्रभावों को देखने-झेलने के बाद ही उत्तर आधुनिकता की स्थिति आती है। हर हालत अपनी जमीन पर पैर टिकाए बिना गति नहीं। पैर टिकेंगे नहीं तो लड़खड़ाएंगे ही। लड़खड़ाहट और दिशाभ्रम इसीलिए तो है पर यह आक्षेप गलत है कि आज का लेखक इसे अपने लेखन में समेट नहीं रहा। आधा-अधूरा ही सही, किन्तु यह सब लेखन में किसी न किसी रूप में आ ही रहा है।

–आप दीर्घकाल से साहित्य के सृजन में संलगन है। प्रभूत सृजन भी किया है। आपके साहित्य का जो मूल्यांकन हुआ है, या हो रहा है। उससे आप कहां तक संतुष्ट हैं ?

–कोई भी रचनाकार समीक्षक के लिए नहीं, पाठक के लिए लिखता है। चूंकि मेरा लेखन समाजोत्थान, महिलाउत्थान से जुड़ा उद्देश्यपूर्ण लेखन है, इसलिए मेरी पाठक संख्या विशाल है। यदि पाठकीय प्रतिक्रिया को मूल्यांकन मानें तो अवश्य ही मेरे लेखन का मूल्याकंन हुआ है और तीन पीढ़ियों का पाठक वर्ग मुझे प्राप्त है, जिसमें प्रबुद्ध पाठकों की संख्या भी कम नहीं है। किन्तु मैंने महिला-आत्मनिर्भरता के लिए प्रचुर तकनीकी प्रशिक्षणोपयोगी लेखन भी किया है, जिसकी विशेषज्ञ के नाते मुझे मान्यता नहीं मिली। मुझे ही क्या, किसी भी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक से उत्तर समाजोपयोगी लेखक के रचनाकारों को हमारे समीक्षकों ने हाशिये पर रखा है। यदि

ऐसा न होता तो अंगूठी से निकलने वाले मल मल के थान की तकनीक आज हमारे यहां से विलुप्त न होती। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाले हमारी उत्कृष्ट कलाएं इतिहास के अंधेरों में खो जातीं और हमारा देश तकनीक विज्ञान, प्रोद्यौगिकी में पिछड़ा न होता।

ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ अब हमारे यहां इस ओर कुछ ध्यान अवश्य गया है, क्योंकि भारतीय भाषाओं में शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए यह सभी साहित्य अनिवार्य है। किन्तु आज भी तकनीकी, वैज्ञानिक लेखन विशेषज्ञ ही कर रहे हैं अथवा विशेषज्ञता का मूल्यांकन हो रहा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तकनीकी लेखन की बात अलग रख दें तो भी मेरी शिकायत है कि कवि, कहानीकार की तरह क्या विद्वतापूर्ण दर्जनों ग्रंथ लिखने वाले विद्वानों को भी उसी तरह मान्यता प्राप्त है। आप मानिये कि बदले वक्त में प्रतिस्पर्धा ही नहीं बढ़ी, गुटबंदी, अपनों को लाभ पहुंचाने की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। साथ ही जो सबसे खतरनाक प्रवत्ति इधर देखने में आ रही है, वह यह कि किसी के उत्कर्ष को पचा न पाने के कारण उसके बढ़ते कदमों में किसी न किसी तरह रोड़े अटकाने की प्रवृत्ति शायद आज की राजनीति के हर कहीं ही बोलबाले के कारण।

–युवाओं के लिए कोई सन्देश ?

–यही कि वे शार्टकट संस्कृति से बचें। पहली सीढ़ी पर पांव रख कर भी आसमान को छू लेने की कामना करने लगना ईमानदारी नहीं है। मेहनत से पल्लाझाड़ी क्यों ?



किताबें

आदित्य की खोज में

○ डा. कृष्ण चन्द्र गुप्त

साम्य : सम्पादक विजय गुप्त, प्रगतिशील लेखक संघ, शीतलाबाई अम्बिकापुर (म.प्र): द्वारा प्रकाशित काव्य प्रस्तिका ओ. एन. वी. कृष्ण की मलयालम कविताएं अनुवादक डा. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर हिन्दी विभाग।

'साम्य' मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ का मुख पत्र है, जो अपने वामपंथी रुझान के कारण सार्थक साहित्य के प्रकाशन और प्रसारण में सहयोग देने के कारण बुद्धिजीवी पाठकों में लोकप्रिय ही नहीं, चर्चित भी है। जिसका कारण उसके द्वारा प्रकाशित समय-समय पर पुस्तिकाएं भी हैं। ऐसी ही यह पुस्तिका है जिसमें मलयालम के शीर्षस्थ कवि श्री कुरुप की कुछ श्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि कविताओं का डा. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर द्वारा अनुवाद प्रकाशित किया है। इसके सम्पादक विजय गुप्त केवल रचनाओं के संकलनकर्त्ता ही नहीं है अपितु जनवादी झुकाव के कारण लघु पत्रिकाओं की भीड़ में अपनी पहचान लगातार गहरी करते जा रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तिका में प्रकाशकीय शीर्षक से ''फिर जी उठो हे श्याम सूर्य'' है जो कुरुप की नैल्सन मंडेला पर इसी में संकलित कविता के शीर्षक पर आधारित हैं। बड़ी प्रभावशाली भाषा और धारदार शैली में कुरुप के विद्रोही व्यक्तित्व के उन्हीं की कविताओं के उद्घरणों से उभारते हुए आज के साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, सामन्तवादी और नस्लवादी चौतरफा शोषण की विभीषिकाओं के विरोध में प्रकट स्वर उद्धृत किये हैं भारतीय और विदेशी कवियों को जुझारु परम्परा के विकास के रूप में 'ग्लोवाल विलेज' के औरत और मर्दों और बच्चों के खून से सने पिंजरे पर नव उपनिवेशवाद, गुलाम सोच और सौदागरी मानसिकता का ताला जड़ रखा है। यह अतिवाद है कुत्सित साम्यवादी कठमुल्लेपन का, जिस पर बहस होनी चाहिए वस्तु स्थिति को सही रूप से जानने के लिए करता। मलयालम काव्य के संदर्भ में, जो उनकी पृष्ठभूमि और विकास को उजागर करता है । मलयालम और हिन्दी के पारस्परिक अनुवाद के दीर्घ अनुभव से सम्पन्न डा. अय्यर की यह शंका उनके सहज विनम्र स्वभाव की द्योतक होते हुए भी प्रस्तुत अनुवाद की समस्याओं की ओर भी

संकेत करती है। कविता के अनुवाद के लिए लगता है कि एक समर्थ कवि का होना ही अपेक्षित है, ऐसा प्रस्तुत अनुवाद को पढ़कर लगता है। मूलतः हिन्दी भाषी न होने के नाते मलयालम की कथन भंगिमा के लिए कुछ और अधिक एवं शब्दावली और मुहावरे प्रयुक्त हो सकते थे।

'मेरी कविता' शीर्षक से कुरुप की आत्मकथा बड़ी धारदार विचारोतेजित एवं उनकी मानवीय चिन्ताओं को बड़े प्रभावी ढंग से उजागर करती है। कविता उनके लिए तन्हाई की अमावस में बचपन के हाथ लगी बूंद भर रोशनी है, इस धरती को स्वयं से जोड़ती कड़ी है, कुशकंटक से, पत्थर से भरे किसी भी घोर वन में राम का अनुगमन करने की इच्छुक सीता है, किसी भी विपदा से सन्तान के साथ जीने की इच्छुक कुन्ती है। ऐसी कविता से रहित संसार को, चाहे वह स्वर्ग ही क्यों न हो, कुरुप नहीं चाहते। कविता के प्रति उनकी यह दृष्टि, उन्हें व्यावसायिकता या मतवाद के लिए शब्दों और भावों के साथ खिलवाड़ करने वाले व लिवाड़ों की भीड़ से एकदम अलग कर देती है। अपनी कविता के विविध आकार-प्रकार को इस रूप में उन्होंने प्रकट किया है-''मेरी कविता भी एक पौधा है जो कभी लाल बनता है, कभी हरा बसन्त पहनता है, कभी मर्मर सुनाता है और कभी हवा में सीटी बजाता मानव दिशाओं की ऋतुओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।'' यह केवल संयोग ही नहीं है कि 'कविता और सृष्टि प्रसार' शीर्षक से शुक्ल जी का यह बहुचर्चित अंश भी दिया गया है-''कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि सुन्दर रूप सामने पाकर अपनी भीतरी कुरूपता का मनुष्य ने विसर्जन न किया, यदि दीन दुःखी का आर्त्तनाद सुन वह न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि किसी बेढब और विनोदपूर्ण दृश्य या उक्ति पर न हंसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ? इस विश्व काव्य की रस धारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ उसके जीवन को मरुथल की यात्रा ही समझना चाहिए।''

कुरुप की प्रस्तुत कविताएं उपर्युक्त कसौटी पर खरी उतरती हैं जिसका प्रमाण यह अंश हैं -''आखिर इन गोपियों को/ हमारे ग्वालों की माताओं को,वंध्य जीव जैसे दुधारू गायों की शक्ल से बूचड़खाने की तरह/जुलूस से सड़क से हांकते ले चले, धधकते धुआंते राख में बदलते झोंपड़े बुलाते हैं, मलिन यमुना की कांपती उंगलियां बुलाती हैं/जलते वन बुलाते हैं.........अंधेरी गली के मोड़ पर, अपने प्राणी को पालने, शरीर के बाजार में बिकने वाले, बारम्बार बुलाते हैं। (कृष्ण पक्ष का गीत)। बढ़ते अनाचार को ध्वस्त करने के लिए 'विनाशायच दुष्टतां' की घोषणा करने वाले कृष्ण को पुकारने के पीछे परम्परागत आस्तिकता यहां व्यक्त हुई है। सर्वहारा वर्ग की

विडम्बना कितनी मर्म बेधक है-तुम्हें, दुल्हन का श्रृंगार करने के लिए यहां न सोना है, न फूल है, कुछ ही नहीं है, कोई नहीं जो काजल लगाये, मेंहदी लगाये, गौने का गीत गाये, सफेद घोड़े पर पधारने के लिए, कोई नहीं है, न गाजा है, न बाजा है...नानी की बातें उसे याद हैं.....कोई तप करता है, बढ़ाता है, और दूसरे फसल काटते है, दाने पीटते हैं (गेहूं के दाने)।''

बंगाली बाउल गायक कविता में भक्ति में लीन हो जाने पर यथार्थ की उपेक्षा पर सूक्ष्म लेकिन हृदयबेधी व्यंग्य किया गया है-''गाओ परमानन्द पयोनिधि में विलय मानती पार्श्वचरी सरिता जैसे-नभ में विवरण करते नैनों से, किसको गा-गा कर पुकारती क्या अपने मन को या अपने निज को....तुम्हें नहीं पता कि, इस धरती में किसने बोया, किसने फसलों को काटा, तुमने तो पूछा न था, तुम्हें इसका दुःख न था, ''यह व्यंग्य भक्ति या प्रेम को परम पुरुषार्थ मानने वालों पर है-''

''अविरल स्पन्दन करती जीवन की नदी यहां संग हीन तुम इस सरिता के तट पर खड़े हुए,...तुम तो सिर्फ निज मन को पुकारते रोने को, तुम्हें भुला देने वाला गीत ही गाने को,'' ''बस के इन्तजार शीर्षक कविता में कवि भावी पीढ़ी के लिए मौन होकर आत्मदान के लिए खड़ा है-'' मैं/तुम सबके लिए अपने दुःख का बोझा, उतार रखने की टेकान होकर, किसी के कानों में न पड़ता निस्पन्द संगीत बन तिरस्कृत मग्न शिला मूर्ति बन, यहां खड़ा हूं, अभी उस बस के इन्तजार में हूं, जो कभी नहीं पहुंचेगी।''

नेल्सन मंडेला को श्याम सूर्य के रूप में संबोधित करते हुए उनकी जिजीविषा का अभिनन्दन किया गया है-''तुम्हारे पास दिन दिन पहुंची थी, अश्वेतों की व्यथाओं की सिसकियां......चारों और भीषण मौन का पहरा बिठाया, तब भी तुम्हारी माटी को महक और रंग, तुम्हारे लिए गैर नहीं हुए'' असहय कष्ट भोगती बहन का यह रूप कितना हृदय विदारक है-''यह मुट्ठी भर राख में बदलती है, और एक खबर का शीर्षक भर बन जाता है। गर्म चाय डालने के बाद, तोड़कर चूर चूर कर देने के लिए, किसी की बनाई मिट्टी की कुल्हड़ भर है।......आयु भर किसी चिंता में सती का अनुष्ठान करती है, पतिदेव की तरक्की के लिए हाकिम की सेजपर, रिश्वत के रूप में चढ़ाई जाती हैं, अपने सौन्दर्य की त्रासदी का वरण करती है, जब छाती दूध भर आने से दुखती है तब भी, बच्चे को कहीं लिटाकर कई लोगों की 'भूख' मिटाने, मेहनत करती धरती पर बेहोश हो गिरती है।'' ऐसे अभिशाप को नष्ट करने के आह्वान में ही कवि अपनी सार्थकता देखता है-''आज मेरे शब्द, दुखों का पान कर, उन्हें सुखाकर, तुम्हारे भीतर की महामंगल शक्ति को जागरण गीतों में जगा दें,''

इसी क्रान्तिकारिता के कारण कुरुप आकाश में उदित चन्द्रकला को दुर्गा के रूप में खड़ी देखते हैं, जिसके हाथ में रक्त भरा दानव सिर है ? अपने प्राकृतिक

और मानवीय परिवेश से विदा लेने को वे तैयार नहीं है–''भीड़ भरी है यह गाड़ी मुझे यहां पालतू बोझ से उतार रहा है,......यह पथ पारता के मधुर निमन्त्रण सा, बढ़ाये खड़ा है, जाने किसकी बाहें, नदी को सागर ज्यों मुझे लपेटे है, किससे निढाल ?'' आज की नृशंसताओं का तांडव कितना संकल्पनीय है ''इन बहारों में, तथागतों की कितनी ही मूर्तियां, सिर कटी दशा में, सब कुछ तज कर, अटवी को अवध मान, चल पड़े राघव को, हृदय से निकल कर दूर फेंकने वाले लोग, आज अयोध्या को क्यों कुरुक्षेत्र बना रहे हैं, जहां रोटी के टुकड़े भर के लिए, अपनी बहन बेची जाती है, जहां असली उपाधि पत्र झोले में रखे हुए एक युवक, एक ओर भोजन के लिए, लोगों से भीख मांगता है.....इन सब स्थानों पर मां जागी बैठी है, अंधकार के दुश्मन आदित्य की खोज में। '' निर्धनता का यह अभिशाप कलेजे में कील ही ठोक देता है-! ''एक बालक मुंह खोले/चपर चपर मिठाई या टाफी बार चाटता खाता है.....एक मां अपने बच्चे को छाती से चिपका लेती है ताकि वह चाकलेट का दृश्य न देख पाये/'' कविता इसलिए प्राणवंत है- ''गीत की मशाल की लपटों में/मेरी सांस की धारा घी डालती है/......मेरे यह गीत/तथ्यों से टकराते छाती में उभर आते हैं/........वीरान पुराणपुरियों के खण्डहर/वेदों की सुरक्षा के लिए उठे यज्ञ स्तूप पर/धधकते पारिवारिक शमशान/मरती नदियों के उस कगार/ मानव की थाती का कचरा वहन करती/मोक्षिदायिनी कितनी ही गंगायें/'' जनम मरण के चक्र की यह विडम्बना भी दर्शनीय है ?'' मुझे गाड़ी से बाहर धकेल दिया /दौड़ती गाड़ी के कितने ही/स्नेह तरल नयन/मेरी ओर देखते ही रहते हैं/डिब्बे से फैंके जाते केले के छिलके को/मैं आम लड़के के किनारे पड़ा हूं/मगर मैं तो यहां दूसरी गाड़ी के इन्तजार में खड़ा हूं/दौड़ती रेलगाड़ी में/फिर से गाने के लिए/ अनन्त तक का टिकट लिए/ ''प्रेम के प्रतिदान में कवि का विश्वास है-/'' इतना सा प्यार देकर/सब कुछ फिर से पा सकते हो/''

कृष्ण को सम्बोधित ''एक अवतार और हो तो'' कविता में -''ग्वाल के ही घर जनम लेना''/इनमें छिपी सोयी नाशक शक्ति को/आपका पांचजन्य जगा दे।.....यहां जो भी बालक जन्म लेता है/उसको आपका मोर मुकुट धारण करता है/ ''साम्प्रदायिक खून खराबे में डूबी स्वतन्त्रता का आज यह रूप कितना घिनौना है-'' माता के अमृत तो पाया पर/पात्र के किनारे खून से रंगे थे/इस अमृत में मां का रक्त है/इसे चखने वाले लहू का मजा लेते हैं/इसे चखने वाले को खून की लत पड़ती है/....हम गौशाला खोजते हैं/मगर हम बूचड़खाने में पहुंच जाते हैं/'' अनैतिकता के घुप्प अंधेरे के यह दृश्य-''फिर से भूख की चीख पुकार/शरीर के सौदे की चहल पहल/ढीले नाते रिश्तों की आहें'' लेकिन इनमें आशा की किरण भी है- ''हम किसी भी गहरे दुख में अपने सूर्य का स्तुति-गान

करते हैं। इतिहास के निर्धनों के/निदाघ गला गलाकर अपने मर्म का उदय/पूर्व दिशा में करायेंगे। '' मरणासन्न मानवता को अपना रक्त पिला ने की कवि की यह घोषणा कितनी स्पृहणीय है-'' असहनीय पीड़ा झेलते-झेलते/हड्डियों की ठठरी बनी हुई कोई मां/जीवन में घिस घिस कर थके हुए कोई पिता/पानी के बुल्ले की तरह सिर्फ टूट जाने के लिए हंसी बिखेरता कोई भाई/या कोई वन कली जो छाती के दूध की सौंध तक नहीं जानती/जिसकी हंसी तक नहीं फूटी/कौन मेरी जान के तीर्थ की प्यास से तरसता है''/हताश जन सामान्य को दीप्त करने के लिए कवि अपना रक्त देता है-'' आज भी जहां इस सत्य को मृत सा मानते हैं कि दुर्बल धरती के राज्य के उत्तराधिकारी होंगे/वहां फिर से प्राण देने के लिए मेरा रक्त लीजिए/मेरा शब्द भी लीजिए/यही प्राण तत्व है कुरुप के व्यक्तित्व और कृतित्व का दूसरों के उपकारों के बदले में उनके पास देने के लिए कुछ नहीं है सिवाय-''अच्छे मौके पर एक अच्छा गाना भर है।'' उन्हें शिरीष का पेड़ सिर से पांव तक फूली डाल पंखों की तरह बढ़ाये, उड़ने में असमर्थ हो पैर जमाये खड़ा हुआ पक्षी लगता है। अन्तिम रचना में आत्म प्रसार दर्शनीय है-''मेरा गीता सीपी की छाती चीरकर जाग रहा है।''

पुस्तक के अन्त में मध्य प्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ के सातवें राज्य सम्मेलन मे कुरुप का उद्घाटन भाषण है-''कमजोर को ही मिलेगी यह पृथ्वी'' परम्परागत सूक्ति वीरभोग्या वसुन्धरा का निषेध करते हुए। भाषा के नाम पर होने वाले राजनैतिक खिलवाड़ को ध्वस्त करने का वे आह्वान करते हैं-''भाषाओं की यह बहुलता हमारे देश की बहुमूल्य धरोहर है'' उदारीकरण और वैश्वीकरण के आर्थिक साम्राज्यवाद से ग्रस्त दुनिया उनकी निगाह में एक ग्लोबल गांव नहीं एक ग्लोबल शमशान बनती जा रही है। जाति-धर्म के नाम पर फैलती नृशंस घृणा के वे कट्टर विरोधी हैं-''शोषितों और वंचितों के प्रति हमेशा ही एक उदात्त संवेदना, वह पवित्र अग्नि है जो हमें प्राचीनकाल के महान कृतिकारों ने सौंपी है''। यह परम्परा के स्वस्थ पूनर्मूल्यांकन का निष्कर्ष है। आज का भाषण असमानता पुरोहितवाद आर्थिक शोषण सामाजिक दमन के साथ-साथ वे राजनीतिक समस्त धन पशुओं और बाहुबलियों की नंगई और साहित्यिक क्षेत्र में रंजकतावादी धंधई आलोचना पर भी तीक्ष्ण प्रहार करने में नहीं चूकते। दुनिया पर तेजी से अपने डैने फैलाती किसी भी शैतानी ताकत के खिलाफ तमाम शान्ति प्रेमी जनता को एक जुट लामबन्द करने में उनका विश्वास है। क्योंकि उनके अनुसार इन स्वप्नों से परेशान साहित्य कान और मुंह बन्द किए शान्ति साधक तो नहीं हो सकता। अपनी कविता का उक्त वास्तविकताओं के प्रति अपनी भावनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में वे प्रस्तुत करते हैं-''मेरे लिए कोई कविता सबकी शान्ति के लिए एक अदम्य आकांक्षा या प्रार्थना हो सकती है या बहुत सारे दिलों को आपस में

बांधता हुआ प्रेम का कोई चिन्ह या आने वाले तूफान की कोई चेतावनी या किसी विराट सामाजिक परिवर्तन के लिए के स्पष्ट ग्रकार या सब कुछ हो सकती है। वह एक गहर ीआह या त्रासद स्थितियों के वशीभूत होकर टपकी आंसू की एक बूंद या किसी बाहरी ताकत की दखलअन्दाजी से कुछ किसी शेर की आसनान गुंजाती दहाड़ भी हो सकती है। प्यार स्त्री और पुरुष में परस्पर साथ होने की चाह विभाजन की पीड़ा और पुर्नमिलन की उत्सुकता अपनी मात्र भूमि से निष्कासन और पलायन कर चुके प्रियजनों की शाश्वत प्रतीक्षा, यह सभी कुछ सार्वभौम है जो मानवीय बृहन्नाटक को निर्मित पुनिर्निमित करता हुआ हर जगह पाया जा सकता है। कवि किसी ईश्वर का अवतार नहीं होता जो धर्म के खतरे में देख कर परीक्षण के लिए धरती पर अवतरित हो गया है। पर कविता कई कई अवतार लेती है और अवश्य लेती है शक्ति का अवतार, शान्ति का अवतार और क्रान्ति (सौन्दर्य) का अवतार।'' रक्त रंजित इतिहास को फिर से अपने को दोहराना न पड़ें-''हम एक बार इस शताब्दी के मध्य में खून से सने प्याले में आजादी का अमृत पीने पर मजबूर किये गये है। हमें इस अमृत को फूट और विभाजन से लहू से अब और विकृत नहीं होने देना है।.....वे हमारे शब्द ही हैं हमारे सृजनात्मक शब्द, जो ज्ञात इतिहास के सर्वाधिक मारक अस्त्र से भी कहीं अधिक शक्तिशाली हैं।''

शब्द की इस अजेय शक्ति में अटूट विश्वास के कारण ही कुरुप एक सार्थक रचनाकार के रूप में इन कविताओं में दिखाई पड़ते है जो शिव और सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए कुसुम कोमल है और अशिव के ध्वंस के लिए वज्र कठोर। उनके इस व्यक्तित्व का पूरा दर्शन इस प्रस्तुत संकलन में होता है।



इस अंक के रचनाकार

1. *डा रविरंजन*
   टीचर्स फ्लैट नं. 27
   सैन्ट्रल यूनिवर्सिटी कैम्पस
   हैदराबाद–500046
2. *डा. कृष्ण कुमार रत्तू*
   9/850 मालवीय नगर
   जयपुर–17 (राजस्थान)
3. *प्रो. राम नाथ शास्त्री*
   35–कर्णनगर जम्मू
4. *डा. बद्री नाथ कल्ला*
   63/6 त्रिकूटानगर जम्मू
5. *मज़हर अहमद ख़ान*
   मोहल्ला साज़गरी
   हवल, श्रीनगर कश्मीर
6. *डा. ज़ोहत अफ़ज़ल*
   हिन्दी विभाग अध्यक्षा कश्मीर युनिर्विसटी श्रीनगर
7. *श्रीमती ज़ाहिदा ज़बीन*
   R-7 यूनिवर्सिटी कैम्पस
   कश्मीर यूनिवर्सिटी श्रीनगर
8. *षष्टीपद चक्रवर्ती*
   केन्द्रीय बौद्ध शिक्षा संस्थान
   चोगलमसर लेह–लद्दाख
9. *अनिला सिंह चाड़क*
   के. वि.
   स्टाफ क्वार्टस नं० 7
   गोल मार्कीट
   गांधी नगर

10. *सूर्यभानु गुप्त*
2-मनकू मेंशन
सदानन्द मोहन जाधव मार्ग, दादर पूर्व
मूंबई-400014

11. *विवेक उपाध्याय*
C/o शिव सक्सेना, मातावाली गली
शिन्दे की छावनी, लश्कर
ग्वालियर (म. प्र)

12. *शिवकुमार शर्मा*
C/o श्री तारा स्मैलपुरी
राजपुरा मंगोत्रेयां, जम्मू

13. *महाराज कृष्ण संतोषी*
98/2 तालाब तिल्लो जम्मू,

14. *श्री राजेन्द्र परदेसी*
326 रामगुलाम टोला
देवरिया, उत्तर प्रदेश-274001

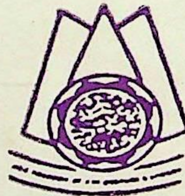
15. *डा. कृष्ण चन्द्र गुप्त*
186/12 आर्यपुरी
मुज़फ्फर नगर (यू. पी)-251001

Regd. No. 28871/76

SHEERAZA HINDI

August-September 1998

Vol. : 34 No. : 3



Published by the Secretary on behalf of J & K Academy of Art. Culture & Languages. JAMMU & Printed at B. D. PRINTERS. Kot Kishan Chand. JALANDHAR CITY (Pb.)